परम्पराशील नाट्य

श्रीजगदीशचन्द्र माथुर, आइ० सी० एस०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना—४

वक्तव्य

श्रीजगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखित **परम्पराशील नाट्य** नामक पुस्तक पाठको के हाथो मे सर्मापित करते हमे बडी प्रसन्नता हो रही है। सन् १९६६ ई० मे 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' के विनीत आग्रह पर श्रीमाथुर साहब ने भाषणमाला-योजना के अन्तर्गत तीन भाषण देने की कृपा की थी। उन्ही भाषणो की सामग्री, नई खोज के आलोक मे, परिवर्त्तन-परिवर्द्धन के साथ पुस्तकाकार छपी है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् श्रीमाथुर साहब की अपनी सस्था है। इस नाते हमे उनके भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और इसी नाते भाषण की सामग्री पुस्तकाकार छापकर प्रकाशित करने का भी। उनकी उदारता के प्रति कृतज्ञता शब्दो द्वारा व्यक्त नही की जा सकती।

वस्तुत, इस क्षेत्र मे श्रीमाथुर साहब का यह नवीन प्रयास है, जिसे उन्होने 'परम्पराशील नाट्य' कहा है। उसका ऐसे व्यापक एव विश्लेषणात्मक आधार पर विवेचन इसके पूर्व नही हुआ था। कहे, तो श्रीमाथुर साहब ने लोक-साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अग को आभिजात्य प्रदान कर दिया है। उन्होने लोकनाट्य एव परम्पराशील नाट्य मे पार्थक्य माना है। उनका मत है कि परम्पराशील नाट्य मे जो परिमार्जन एव अलकृति विद्यमान है, वह इसे सामान्य लोक-साहित्य से पृथक् कर देती है। यह निश्चित है कि लक्षण-ग्रन्थो से प्रभावित रचना एक प्रकार की होती है और लक्षण-ग्रन्थो से अछूती रचना दूसरे प्रकार की। लक्षण-ग्रन्थ से अप्रभावित रचना मे भी एक दूसरे से मात्रा मे भिन्नता होती है। इस दृष्टि से श्रीमाथुर साहब का प्रस्तुत विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सचमुच, परम्पराशील साहित्य या लोक-साहित्य का एक समुद्र ही देश मे लहरा रहा है। इसकी वाणी कुछ अटपटी हो सकती है, शब्द नपे-तुले नही हो सकते है, किन्तु इसकी मार्मिकता तथा सद्य प्रभावित करने की क्षमता को कौन अस्वीकार कर सकता है? जिस प्रकार इस कोटि की रचनाएँ शिष्ट रचनाओ से भिन्न है, उसी प्रकार इनकी आलोचना-पद्धति भी भिन्न प्रकार की होगी। किसी स्थल पर कविगुरु रवीन्द्र ने ठीक ही कहा है कि लोक-साहित्य का आलोचन लक्षण-ग्रन्थो की मदद से करना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार घर की कुलवधू को कटघरे मे खडी करके जिरह कराना। श्रीमाथुर साहब की प्रस्तुत पुस्तक मे परम्पराशील नाट्यो का सामान्य नाट्यो से अलग करके विवेचन हुआ है, क्योकि वे काफी अरसे से खास परम्परा के अधीन रहकर लोक-साहित्य की प्रवहमाण धारा से अलग हो चुके है तथा उनकी कुछ अपनी रूढ़ियाँ या प्रणालियाँ स्थिर हो चुकी है।

श्रीजगदीशचन्द्र माथुर रससिद्ध साहित्यिक और सफल नाटककार हैं। उनके पास अनुभव का भाण्डार है। उनके बारे मे शायद सबसे बडी बात यह हे कि उन्होंने सहज जिज्ञासु बुद्धि लेकर देश के कोने-कोने का पर्यटन किया है और हमेशा अपनी आँखो और कानो को खुला रखा है। फलत , उनके प्रस्तुत विवेचन मे जो व्यापकता, गहनता और मार्मिकता आई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मेरा दृढ विश्वास है कि श्रीमाथुर साहब की इस कृति से चिर-उपेक्षित इन साहित्य-निधियो को एक ऐसी मर्यादा प्राप्त हुई है, जिसके कारण बहुतेरे साहित्यिक जिज्ञासु इस ओर उन्मुख होगे और उनके द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को और भी आगे बढायेंगे।

जयदेव मिश्र
निदेशक

विवाह-पंचमी, सं० २०२६ वि०

प्रस्तावना

भारतीय नाट्य-सम्बन्धी जो दृष्टिकोण और सामग्री इस पुस्तक मे प्रस्तुत किये गये है उनमे बहुत कुछ नया है। यद्यपि मैने **प्राचीन भाषा-नाटक-संग्रह** की भूमिका मे और उससे भी पहले अपनी अँग्रेजी-पुस्तक **ड्रामा इन रूरल इण्डिया** के कतिपय प्रसगो मे इनमे से कुछ विशेषताओ पर विचार किया है, तथापि बाद मे पाये गये तथ्यो के साथ इनका एक स्थान पर विवेचन पहली बार इसी पुस्तक मे हिन्दी-पाठको के समक्ष उपलब्ध है।

मेरा अध्ययन एक शौक—हॉबी—की तरह मुझपर हावी हुआ। अध्ययन के दौरान, और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् मे दिये गये भाषणो को पुस्तक का रूप देते समय भी कुछ नये तथ्य मेरे सामने आये, जिनसे सकेत पाकर कुछ मान्यताएँ मेरे मन मे उभरी। ये तथ्य और मान्यताएँ सागर की हिलोरो द्वारा तट पर छोडे गये शखो और कौडियो की भाँति इस पुस्तक के विवरणात्मक कलेवर के इर्द-गिर्द टिक गये है। कही उन विवरणो की सैकत-राशि मे इनपर निगाह न पडे, इसलिए प्रारम्भ मे ही उल्लेख किये देता हूँ।

मेरी मान्यता है कि जो आचलिक नाट्यविधाएँ भारतवर्ष मे आजदिन प्रचलित है, उन्हे 'लोकनाट्य' का नाम देना सही नही है। उनका साहित्य और उनकी प्रस्तुतीकरण-पद्धतियाँ लोककला की अपेक्षा कही अधिक परिमार्जित और अलकृत है। रगमच और नाटक के अन्य रूपो से इनका पार्थक्य इनके परम्परानुगामी (ट्रेडिशनल) होने मे है। अत, मैने इन्हे 'परम्पराशील नाट्य' मानकर इनका अध्ययन किया है।

यद्यपि जनसाधारण के बीच नाना प्रकार के नाट्य-प्रदर्शन आदिकाल से और सस्कृत-नाट्य के गौरवकाल मे भी होते रहे थे, तथापि रासलीला, अकिया नाट, जात्रा, भागवतमेल, साग इत्यादि वर्त्तमान लोकप्रिय शैलियो का उद्भव और विकास सस्कृत (क्लासिकल)-नाट्य के ह्रासकाल मे एक ऐसी नृत्य-सगीत-सवाद की मिश्रित शैली से हुआ, जिसका लक्षणकारो ने तो उल्लेख नही किया है, लेकिन जिसके लिए नाटककारो एव अन्य लेखको ने 'सगीतक' शब्द का व्यवहार किया है।

सस्कृतेतर भाषाओ मे सगीतको का उद्भव, लगभग एक हजार वर्ष हुए प्रारम्भ हुआ, और इनके विकास की धारा प्राय दक्षिण के क्षेत्रो से उत्तर की ओर आई। इस प्रक्रिया का नाता भक्ति-सम्प्रदाय से विशेषत रहा है, जो स्वय दक्षिण से उत्तर की ओर बढा। जयदेव के गीतगोविन्द की शैली ने सगीतक को देशव्यापी प्रदर्शन-विधा के रूप मे स्थापित किया। केरल के कुलशेखरवर्मन्, मिथिला-नेपाल के हरसिहदेव, असम के शकरदेव, ब्रज के नारायण भट्ट, बग के रूपगोस्वामिन्, आन्ध्र के सिद्धेन्द्रयोगी और तजोर के रघुनाथ नायक भाषा-नाट्य के मुख्य प्रवर्त्तक माने जा सकते है।

भाषा-नाट्य के विकास को पिछले एक हजार वर्षो मे चार चरणो मे विभक्त किया जा सकता है—पहला, राजदरबार-केन्द्रित, सस्कृत और भाषा-मिश्रित नाटको का युग · लगभग १००० ई० से १५०० ई० तक, दूसरा भक्तिप्रधान वैष्णव नाटको का युग · १५०० ई० से १६५० ई० तक, तीसरा आचलिक विशेषताओ एव लोक-सस्कृति से प्रभावित नाटको का युग १६५० ई० से लगभग १८०० ई० तक, और चौथा सामाजिक प्रतिक्रियाओ और परम्परा के समन्वय पर आश्रित नाटको का युग १८०० ई० से आज पर्यन्त। सामाजिक चेतना, राजनीतिक परिस्थिति और अभिव्यजना-शैली के बदलते आयाम इन सभी युगो की प्रगति के प्रेरक थे।

भक्तियुगीन भाषा-नाटको के रचयिताओ ने रगशाला और नाट्य को जनसाधारण के बीच भागवत धर्म के सन्देश का माध्यम बनाया। ऐसा करने के लिए उन्होंने एक विशेष सम्प्रेषण-पद्धति (कम्युनिकेशन टेकनीक) का इस्तेमाल किया। इस सम्प्रेषण-पद्धति का आधार था रस-प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष, जिसमे भावविह्वलता और पुनरुक्ति इत्यादि के फलस्वरूप अह के अस्थायी लोप की मनोदशा मे आध्यात्मिक सन्देश को प्रेक्षक आसानी से ग्रहण कर सकता था। इस सम्प्रेषण-पद्धति का अन्य परम्पराशील विधाओ पर भी प्रभाव पडा।

यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र मे सभी नाट्य को सोद्देश्य एव धर्म और नीति के सन्देश का वाहक माना गया है, तथापि सस्कृत-नाटककारो ने प्राय इस कर्त्तव्य को निबाहने का प्रयास नही किया। परम्पराशील भाषा-नाटको ही मे भरत द्वारा निर्दिष्ट नाट्य-उद्देश्य को सार्थक करने की चेष्टा की गई। अत, परम्पराशील नाट्य ही 'पचम वेद' कहलाये जाने के अधिकारी है।

मैने बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के निमन्त्रण पर ये भाषण फरवरी, सन् १९६६ ई० मे दिये थे। पुस्तक का रूप देते समय मैने तीन प्रकार की नवीन सामग्री मूल पाण्डुलिपि मे सम्मिलित कर दी है · एक तो परम्पराशील नाट्य के इतिहास का यथासम्भव क्रमबद्ध ब्योरा, दूसरे, वैष्णव नाटककारो की रसान्वयी सम्प्रेषण-पद्धति का विवेचन और तीसरे, परम्पराशील नाट्य-साहित्य (लिखित और मौखिक) के कुछ नमूने। इन नमूनो मे कुछ, जैसे मेलात्तूर का भागवतमेल, शायद पहली बार हिन्दी-पाठको के सामने आये है।

मूल भाषणमाला मे, इस भाँति, अनेक बाद मे चुने गये सुमन गूँथ गये है। मुझे आशा है कि यो पुस्तक की उपयोगिता तो बढी ही है, उसकी रोचकता मे भी कमी नही हुई है।

ग्रन्थ की एक विशेषता की ओर पाठको का ध्यान और दिलाना चाहूँगा। प्राय. भारत के विभिन्न अचलो मे प्रचलित सगीत, शिल्प, नाट्य एवं अन्य सास्कृतिक विधाओ का प्रादेशिक क्रम मे ही विवरण पुस्तको और लेखो में होता रहा है। उनका अखिल-भारतीय दृष्टि से विश्लेषण नही हो सका है। यह मेरा सौभाग्य रहा कि अपने देश

के अनेक भागो मे जाकर वहाँ के परम्पराशील नाट्य को देखने और उनका अध्ययन करने के अवसर मुझे मिलते रहे। परिणाम यह हुआ कि मेरा दृष्टिकोण एकागी नही रह सका। किसी नाट्य-प्रदर्शन को मै देखता, तो तुरन्त उसके विभिन्न अगो की तुलना मै अन्यत्र देखे हुए प्रदर्शनो के अगो से करने लगता। शब्दशास्त्री जैसे पर्यायो की खोज करते है, वैसे ही मै भारतवर्ष की विभिन्न आचलिक नाट्य-शैलियो मे साम्यो की खोज करता रहता हूँ। अत , इस ग्रन्थ मे प्रादेशिक क्रम से नाट्य-विधाओ का विवरण न करके मैने सामान्य विशेषताओ के वर्गो मे सामग्री जुटाई है। मै इसे अपनी विशेष उपलब्धि मानता हूँ। मेरे सस्कार ऐसे बन गये है कि अपने देश की विविधताओ के मूल एव अभिव्यक्ति मे मुझे सहज ही साम्य की प्रतीति हो जाती है। यह ग्रन्थ मेरे इन्ही सस्कारो का प्रतीक है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से मेरा बहुत पुराना नाता है, आत्मीयता का नाता। परिषद् ने अनेक उपेक्षित विषयो पर ग्रन्थ-प्रकाशन और भाषणो का आयोजन कर हिन्दी के भाण्डार की अभिवृद्धि की है। मुझे भी इस यज्ञ का सहभागी बनाकर परिषद् ने मुझे जो सम्मान दिया है उसके लिए मै उसके अधिकारियो का बहुत कृतज्ञ हूँ।

नई दिल्ली **जगदीशचन्द्र माथुर**
२३ जनवरी, १९६९

विषय-क्रम

प्रथम भाग

उद्‌गम और विकास

द्वितीय भाग

सामान्य विशेषताएँ

तृतीय भाग

चयनिका

परम्पराशील नाट्य

रासलीला के दो दृश्य

[प्रथम भाग]

उद्गम और विकास

१. पंचम वेद : क्या और कैसे ?

२ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और संगीतक

पंचम वेद : क्या और कैसे ?

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र को पचम वेद के रूप मे प्रतिष्ठित करते हुए तीन बातो पर जोर दिया है। एक तो यह कि चूँकि शूद्र तथा वन्य जातियो के लोग वेद-पाठ से वचित थे, इसलिए ऐसे वेद की आवश्यकता पडी, जो सभी वर्गो की जनता के लिए उपादेय हो। दूसरी बात यह कि नाट्य मे ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का सग्रह किया गया। भरत की तीसरी स्थापना यह थी कि नाट्य सभी प्रकार की कलाओ, शिल्प तथा ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण पंचम वेद कहलाने योग्य है। इस विषय मे नाट्यशास्त्र मे एक रोचक प्रसग है। देवताओं के कहने पर भरत मुनि ने नाट्य का विधान किया। भरत मुनि ने जब पहले नाटक 'देवासुर-सग्राम' का प्रयोग प्रस्तुत किया और उसमे दैत्यो पर देवताओ की विजय को प्रदर्शित किया, तब दैत्यो ने विघ्न करके अदृश्य शक्तियो के सहारे नटो की स्मरण-शक्ति, गति और चेष्टा को जडीभूत कर दिया। जैसे-तैसे करके इन्द्र के 'जर्जर' नामक शस्त्र-विशेष से इन विघ्नो का शमन किया गया। जब दूसरी बार प्रयोग हुआ और उसके लिए रगशाला तैयार कर दी गई, तब प्रदर्शन के पहले ब्रह्माजी ने समझौते के तौर पर दैत्यो के नेता विरूपाक्ष को बुलाकर उससे बातचीत की और तब उन्होने आश्वासन दिया कि नाटक केवल देवताओ या दैत्यो के लिए ही नही होगा, बल्कि त्रैलोक्य-भर के भावो को प्रकट करेगा तथा गृहस्थो, दैत्यो, राजाओ और ऋषियो के चरित्र को प्रदर्शित करेगा। उसमे कही धर्म और लोकोपदेश, कही क्रीडाएँ, कही धनप्राप्ति, कही शान्ति-प्रचार और कही युद्ध दिखाये जायेंगे। वह सभी प्रकार के लोगो के लिए धर्मप्रद, यश.प्रद, आयुष्प्रद, हितकर, बुद्धिविकासक और लोकोपदेशक होगा।

यद्यपि भारतवर्ष मे नाट्य का यह विविध रूप सिद्धान्तत मान्य रहा, तथापि संस्कृत-नाटको की परम्परा प्राय उच्च वर्ग तथा राजकुल के लोगो का मनोरजन करने में विशेष बलवती रही। जातिगत भेदो का पालन तो नही किया गया, किन्तु नाटको का पूरी तरह से आनन्द उठाने के लिए प्रेक्षको को सहृदय के गुण प्राप्त करने पर जोर दिया जाने लगा। सहृदय साहित्य तथा कला का मर्मज्ञ होता है और इसके लिए न केवल अभ्यास, अपितु वशगत सस्कारो की भी आवश्यकता पड़ती है। इसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे सस्कृत-नाटक सीमित वर्ग का प्रतिबिम्ब बनता चला गया और उसे अशत. ही पंचम वेद की सज्ञा दी जा सकती थी।

संस्कृत-नाटक के पंचम वेद होने मे दूसरी कठिनाई यह पडी कि उच्च वर्ग के लोगों के लिए मनोरंजन के साथ नाटक का सोद्देश्य रूप प्रस्तुत नही हो सकता था। इस दुविधा का निवारण सस्कृत-नाटककारो ने नाटको के अन्त मे 'भरतवाक्य' द्वारा किया। सबका कल्याण, शुभ और शान्ति का विस्तार, इन सद्विचारो के साथ नाटक की समाप्ति होती और यही मगलकामना नाटक का उद्देश्य समझी जाती थी। नाटक के प्रधान कलेवर

में किसी प्रकार के मत-स्थापन की गुंजायश नही देखी गई । शायद यही कारण है कि प्राय मस्कृत-नाटको मे विचार-तत्त्व, अध्यात्म-विश्लेषण और जीवन-दर्शन का अभाव-सा प्रतीत होता है । दो ही अपवाद मिलते हे। एक तो अश्वघोष के बौद्ध-धर्मावलम्बी नाटक और दूसरा कृष्णमिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' । इन दोनो के बीच लगभग एक हजार वर्ष तक भास से राजशेखर तक जितने नाटककार हुए, उन्होने प्राय सोद्देश्य साहित्य से अपने को बरी रखा ।

सर्वसाधारण का मनोरजन और नीति तथा धर्म का उपदेश, ये दो लक्षण जो भरत ने पंचम वेद के लिए स्थिर किये थे, सस्कृत की प्रधान नाट्यधारा मे प्रतिबिम्बित नही हुए । किन्तु, भरत मुनि के सिद्धान्त सामान्य अनुभव पर आधारित थे और उनकी अभिव्यक्ति कही-न-कही होनी ही थी । अत, सस्कृत की प्रधान नाट्यधारा जब क्षीण होने लगी, उससे कुछ पहले ही जनसाधारण के मानस मे मनोरंजन और शिक्षा से अनुप्राणित विभिन्न शैलियों का उदय होने लगा । इन शैलियो का विवेचन लक्षण-ग्रंथो मे बहुत कम हुआ । लक्षणकारो की प्रवृत्ति तो यह रही थी कि रूढ विधाओ से विभिन्न यदि कोई नये प्रकार का नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत होता, तो वे तुरन्त उसे अपने वर्गों की संख्या में जोड देते । इस तरह शास्त्र-सम्मत परिवेश का अतिक्रमण नही हो पाता। किन्तु ११वी और १२वी शताब्दी तक आते-आते सस्कृत-नाट्यधारा कुछ क्षीण हो गई । राजप्रासाद उजडने लगे । सहृदय सरक्षको की सख्या न्यून हो चली । अत, लक्षणकार भी अपनी सग्रह-शक्ति खो बैठे ।

ऐसी परिस्थिति मे वही नाट्य-प्रदर्शन पनप सका, जो राजप्रासाद पर कम आश्रित था मन्दिर और धर्म-स्थानो पर अधिक, जो मेलों और उत्सवो मे जन-मनोरजन करके पुष्ट हो सकता था, जो लक्षणकारो द्वारा स्थापित सिद्धान्तो की उपेक्षा कर सकता था और जिसमें वस्तुतः विभिन्न कलाओं का प्रयोग होता था । पचम वेद से मेरा तात्पर्य इसी नाट्यशैली से है, जो सस्कृत-नाट्यधारा के अवनति-काल मे सारे भारतवर्ष में प्रगतिशील हुई । यह नाट्य आज भी हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रो मे सक्रिय है । आज भी इसका प्रभाव उन नाटको से कहीं अधिक व्यापक है, जो नगरों के भव्य और उच्च वर्ग के लोगों का मनोरजन करते है अथवा जिन्हे साहित्यिक नाटक कहा जाता है ।

इन क्षेत्रीय और जनप्रिय नाटक-शैलियों को प्राय· लोकनाटक के नाम से आजकल सम्बोधित किया जाता है। किन्तु, लोकनाटक शब्द अँगरेजी के 'फोक ड्रामा' से उधार लिया गया है । 'ऑक्सफोर्ड कम्पेनियन ऑव ड्रामा' के अनुसार 'फोक प्ले', यानी लोकनाटक ऐसा नाट्य-मनोरंजन है जो ग्रामीण उत्सवो पर ग्रामवासियों द्वारा स्वय प्रस्तुत किया जाता है और प्रायः अशिष्ट और देहाती होता है। योरोप मे लोक-नाटक आदिम जीवन में लोकोत्सवों में प्रारम्भ हुए थे । उनमे मृत्यु, पुनर्जन्म, तथा स्थानीय महापुरुषों के विवरण, नटों के खेल इत्यादि होते थे । इगलैण्ड मे 'ममर्स प्ले' को लोकनाटक कहा जाता है ।

स्पष्ट है कि भारतवर्ष की क्षेत्रीय नाट्यशैलियाँ प्राय. इस प्रकार के लोक-नाटक से कही ऊँचे स्तर के प्रदर्शन और साहित्य से सम्पन्न हैं । अतः, उन्हें लोकनाटक की संज्ञा देना समीचीन नही जान पड़ता। उनमें कई शैलियाँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है।

मेरे विचार मे इन शैलियो को 'परम्पराशील नाट्य' कहना अधिक उपयुक्त होगा । यह नाट्यशैली एक लम्बी परम्परा का वर्त्तमान स्वरूप है । इसके रगमच और साहित्य दोनो ही बहुत कुछ उस विधि और सोद्देश्य कला के प्रतीक है, जिसका सकेत भरत के नाट्यशास्त्र मे मिलता है और जिसका विशेष विकास मध्ययुग के सस्कृत-नाटक के अवनति-काल मे हुआ । यही नाट्यशैली पचम वेद की सज्ञा की अधिकारिणी जान पडती है । आज देश मे पुन. इस पचम वेद के प्रति जागरूकता की आवश्यकता है । हमारी नागरिक सभ्यता मे पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप एकसूत्रता का समावेश हुआ । इस एकसूत्रता का धड राजनीतिक एकता है । किन्तु, राजनीतिक एकता अपने मे यथेष्ट नही । सास्कृतिक सन्तुलन लोक-जीवन की एकता का सवर्द्धन करता है । परम्परागत नाट्य मे कई ऐसी विशेषताएँ है, जो भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रो को एक दूसरे से बाँधती है । परम्परागत नाट्य का दूसरा महत्त्व इस बात मे है कि नागरिक नाट्य की अपेक्षा वह देश की असख्य जनता के कही अधिक समीप है । आज जब भारतवर्ष मे जनसाधारण को देशव्यापी प्रगति मे शामिल करना अभीष्ट है, ऐसी सास्कृतिक विधाओ को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, जिनमे सामान्य जनता एकात्मीयता की अनुभूति कर सके । यही नही, सोद्देश्य नाट्य राष्ट्र-निर्माण की घडी मे विशेष महत्ता रखता है । सोद्देश्यता नागरिक साहित्य मे प्राय अप्रासगिक हो जाती है, जैसा सस्कृत-नाटक मे हुआ और जैसा आज दिन भी हम देखते है । किन्तु, 'परम्पराशील नाट्य' मे वही सोद्देश्यता बहुत स्वाभाविक प्रतीत होती है ।

मुझे लगभग २४ क्षेत्रीय नाट्यशैलियो की जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिल चुका है । इन मे प्रमुख है—रासलीला, रामलीला, असम के अकिया नाट, बिहार के कीर्त्तनिया नाट और बिदेसिया, बगाल की यात्रा, मध्यप्रदेश के माँच, राजस्थान के ख्याल और रम्मत, गुजरात के भवई, महाराष्ट्र का तमाशा, कर्णाटक का दोडाट्टा, आन्ध्रप्रदेश का कुचिपुडि, तमिलनाड का भागवत-मेल, मैसूर का यक्षगान, केरल का कूडियाट्टम और चविट्टू, हिमाचल प्रदेश का करियाला, उत्तरप्रदेश, हरियाणा और पजाब के नौटंकी और सांग तथा कश्मीर का भाण्डजशन ।

आश्चर्य है कि हमारे देश की इस विशाल और विविध सास्कृतिक अभिव्यजना का भली भाँति विवेचन नही हुआ है । लोकनृत्य मे तो अभिरुचि बढी है, शायद इसलिए कि लोकनृत्य मे भाषा की बाधा नही है । शास्त्रीय नृत्य यथा भरत-नाट्य, कत्थक इत्यादि की ओर भी विद्वानो का ध्यान गया है, किन्तु यह नही समझा गया कि वस्तुतः शास्त्रीय नृत्य परम्परागत नाट्यशैलियो के खण्ड-मात्र है । उनका सही प्रयोग नाट्य-कथाओ के प्रदर्शन मे ही होता था । भरत-नाट्य का वास्तविक रूप भागवत-मेल मे मुखर हो पाता है ।

परम्पराशील नाट्य की सामान्य विशेषताएँ

परम्परागत नाट्य के दो पहलुओं की ओर मैंने सकेत किया । एक तो उनका देशव्यापी एकता का सूत्र होना और दूसरे उनमें जनसाधारण को सचालित और प्रेरित

करनेवाली प्रवृत्तियों की प्रधानता। ऊपर जिन क्षेत्रीय नाट्यशैलियो का जिक्र हुआ है, उनमें निम्नाकित सामान्य विशेषताएँ पाई जाती है, जिनके कारण उन्हे हमारे देश की सस्कृति का सार्वभौमिक स्वरूप माना जा सकता है और विविधता मे एकता का प्रतीक :

१. दक्षिण और पूर्वी भारत के परम्परागत नाट्यो मे एक ही प्रकार के पौराणिक कथानको का प्रयोग हुआ है। नृसिहावतार, श्रीकृष्ण-लीला, रामचरित, महाभारत के दृश्य—ये कथाएँ असम से केरल तक सभी प्रकार के नाट्यो मे मिलती है।

२. सगीत, नृत्य और सवाद तीनो ही परम्परागत नाट्यशैली के अनिवार्य अग है और उनके सम्मिश्रण से ही सौन्दर्य-बोध और ज्ञान प्राप्त होते है।

३. यद्यपि हर क्षेत्रीय नाट्य मे क्षेत्र की प्रमुख भाषा का प्रयोग हुआ है, तथापि लगभग सभी मे सुसस्कृत तथा ग्रामीण भाषाओ का विचित्र सयोग दीख पड़ता है। प्रेक्षक को एक साथ ही उच्च कोटि की साहित्यिकता तथा ग्रामीण स्वच्छन्दता का अनुभव होता है।

४. इन नाट्यशैलियो मे जो सगीत प्रयुक्त हुआ है, वह रागानुबद्ध होता है, यद्यपि एक ही नाम से रागो के विभिन्न स्वर-विधान मिलते है। आश्चर्य यह है कि कर्णाटक और दक्षिण भारत मे प्रचलित कुछ रागो की प्रतिध्वनि उत्तर बिहार और असम के नाट्य रागो मे मिलती है। देशी और मार्गी दोनो प्रकार के राग क्षेत्रीय नाटको मे प्रायः पाये जाते है।

५. वेशभूषा मे भी बहुत कुछ साम्य दीख पड़ता है। लम्बे अंगवस्त्र कश्मीर मे भी है और तमिलनाड मे भी। मुखौटे तो देश-भर मे व्यवहृत होते है।

६. इन नाटको मे सवाद (विशेषत. पश्चिमी प्रदेशो मे) प्रश्नोत्तर-पद्धति का उपयोग करते है। यह पद्धति वेदकालीन साहित्य से महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर-सवाद तथा विविध बौद्ध और जैन साहित्य तक मे प्रवाहित होती हुई प्रादेशिक नाट्यो में परिपुष्ट हुई है।

७. लगभग प्रत्येक परम्पराशील नाट्य में प्रारम्भिक अंश, जिसे भरत-नाट्य-शास्त्र में पूर्वरंग कहा गया है, विशेष महत्त्व रखता है। वस्तुतः, पूर्वरंग इन नाट्यो का सबसे व्यापक चिह्न है।

८. लगभग सभी परम्परागत नाट्यों मे सूत्रधार केवल प्रारम्भ में ही नही, बराबर किसी-न-किसी रूप मे मौजूद रहता है। सूत्रधार नाटक की कथा को अग्रसर करता है और दर्शको एव कथा के बीच कड़ी का काम करता है। प्रायः सूत्रधार के साथ-साथ विदूषक भी किसी न किसी नाम से इनमे से अधिकतर नाट्यों मे विद्यमान है।

९. परम्परागत मच की यह विशेषता है कि इसमें अभिनय रूढिगत होता है। मुद्राओ का प्रयोग भाषा को स्पष्ट करने के लिए होता है और बोली विशेष स्वराघात के अनुसार होती है।

ये सभी विशेषताएँ परम्परागत प्रादेशिक नाट्यो को एक सूत्र मे बाँधती है और इस तरह सारे भारतवर्ष के एक रंगमच का बोध होता है । उसी प्रकार इस रगशाला का सम्पर्क जनसाधारण के जीवन से भी बहुत निकट का है। इस बात की पुष्टि निम्नाकित विशेपताओं से होती है—

१. ये सब प्रदर्शन थोड़े ही खर्चे मे किये जा सकते है और निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति का ऐसा मनोरजन हो पाता है, जिसमे सगीत भी है, नृत्य भी, और सवाद भी ।

२. यद्यपि ये सब शैलियाँ परम्परागत है, तथापि बदलते युग के अनुसार समस्याओ का समावेश इन नाट्यो मे होता चलता है। साग, नौटकी और कूडियाट्टम मे कथानको अथवा प्रसगो द्वारा समसामयिक जीवन पर प्रकाश डाला जाता है ।

३. लगभग सभी नाट्यो से जनसाधारण को जीवन की नीतिशिक्षा मिलती है । कोई भी ऐसा अवसर खोया नही जाता, जिसमे किसी-न-किसी प्रकार की शिक्षा की ओर प्रेक्षको का ध्यान खींचा जा सके ।

४. यद्यपि पौराणिक नाट्यो मे अनेक अवतारी पुरुषो का चरित्र प्रदर्शित होता है, तथापि अनेक प्रादेशिक नाट्य साधारण कुल मे पैदा हुए नायको को प्रस्तुत करते है । राजस्थान के ख्याल में तेजाजी का चरित्र इसकी पुष्टि करता है ।

५. नाट्यों में सामाजिक जीवन पर छीटाकशी की जाती है और जनसाधारण के उग्र व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है। हिमाचल के 'करियाला' और कश्मीर के 'भाण्डजशन' में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे ।

६. पौराणिक गाथाओं के अतिरिक्त इन नाट्यों में प्रेमाख्यानों का प्रचुर स्थान है । प्रेम का जो स्वरूप इन नाट्यों मे मिलता है, वह स्वच्छन्द इन्द्रिय-सुखबोधक और निर्बाध है ।

७. इन नाट्यो के प्रदर्शन में प्रेक्षक और नट दोनों का निकट सम्बन्ध होता है और प्रायः दर्शक भी प्रदर्शन में हिस्सा लेते है । प्रेक्षकों और नाट्य के बीच में यह तारतम्य नागरिक जीवन के लिए एक अनूठी वस्तु है ।

बहुजन-सम्प्रेषण का माध्यम

परम्पराशील नाट्य में भरत के मूल उद्देश्य की पूर्त्ति हुई, यानी, सार्वभौमिक भावों की अभिव्यक्ति, सभी वर्गो के लोगों के चरित्र का प्रदर्शन तथा सर्वसाधारण के हित, सुख और उपदेश का संवर्द्धन । बुद्ध का वचन बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय परम्पराशील नाट्य पर निस्सन्देह लागू होता है। संस्कृत नाट्य इस उद्देश्य की ओर जागरूक होते हुए भी उसे पूरा करने में इसलिए असमर्थ रहा कि उसकी पद्धति उद्देश्य के अनुरूप न रह सकी। बात यह है कि जिस समय किसी उद्देश्य-विशेष का निरूपण किया जाता है,

उस समय जो पद्धति और साधन उसकी पूर्त्ति के लिए यथेष्ट समझे जाते है, यह जरूरी नही कि बाद के युग मे भी वही पद्धति और साधन सार्थक रहे। परम्पराशील नाट्य की परम्पराएँ बदलती रही है । यह लिखित शास्त्र से बँधा नही रहा। अतः, सार्वभौभिक भावो की अभिव्यक्ति, विभिन्न वर्गो के चरित्रो के प्रदर्शन और लोकोपदेश के निरूपण के लिए यह नाट्य बहुजन-सम्प्रेषण, यानी 'मास कम्युनिकेशन' का माध्यम बन गया ।

बहुजन-सम्प्रेषण का सिद्धान्त आधुनिक समाज-विज्ञान की देन है। किन्तु, अनेक युगों मे अनेक प्रकार के बहुजन-सम्प्रेषण-साधनो (मीडिया ऑव मास कम्युनिकेशन) का व्यवहार होता रहा है । भारतवर्ष मे पिछले एक हजार वर्ष मे विकसित परम्पराशील आंचलिक नाट्य शैलियाँ बहुजन-सम्प्रेषण-माध्यम के विशिष्ट उदाहरण है । वर्त्तमान युग के बहुजन-सम्प्रेषण उपकरणो से भारतीय परम्पराशील नाट्य दो दिशाओं में कुछ पृथक् है । एक तो यह कि उसमे अभिनय, नृत्य, सगीत और संवाद के यथावश्यक सम्मिश्रण द्वारा प्रेक्षको मे रसानुभूति का बीजारोपण किया जाता है, जबकि आधुनिक माध्यमो में रस-निष्पत्ति नही, वरन् चमत्कार की प्रधानता है और शील की व्यक्तिगत विशेषताओ (इण्डिविजुएलिटी ऑव कैरेक्टर) पर अधिक जोर दिया जाता है। दूसरा अन्तर यह है कि परम्पराशील नाट्य मानवमात्र के लिए व्यवहार के मानदण्ड और चिन्तन तथा अभिव्यक्ति के औचित्य की ओर सकेत करता है, जबकि आधुनिक बहुजन-सम्प्रेषण नीतिपरकता से आच्छन्न नही हो सकता । विघटित मूल्यो के युग में नैतिक आदर्श अमूर्त्त ही नही, कृत्रिम प्रतीत होते है ।

कदाचित् इसी अन्तर के कारण परम्पराशील नाट्य बहुजन-सम्प्रेषण के स्तर से उठकर पंचम वेद की श्रेणी मे आ जाता है। लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित इन विधाओ को चतुर्वेद की प्रतिष्ठा भले ही नही मिली, प्रभुविष्णुता और आदर्शों के प्रति लगाव इनमे चतुर्वेद से कम नही है । इनके विकास की कहानी भारतवर्ष के सास्कृतिक इतिहास का एक उपेक्षित अध्याय है ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और संगीतक

परम्पराशील प्रादेशिक नाट्य के जो रूप आजकल देश मे प्रचलित है, वे लक्षण-ग्रन्थों में दिये गये रूपको और उपरूपको के किसी वर्ग-विशेष से मेल नही खाते । कीथ ने अपने सस्कृत-नाट्य के इतिहास ('द सस्कृत ड्रामा') मे 'इर्रेगुलर प्लेज' यानी वर्गातीत नाटको का जिक्र किया है । भारत मे शास्त्रनिर्माताओ का तरीका यह रहा है कि ज्यो ही कोई रचना विहित परिपाटी मे अलग प्रतीत हुई, त्यो ही उसके लिए कोई नया नाम और वर्ग प्रस्तुत कर दिया गया । भरत के बाद अभिनवगुप्त, धनजय, सागरनन्दी, रामचन्द्रगुणचन्द्र, शारदातनय, नन्दिकेश्वर इत्यादि विद्वानो ने इसी भाँति उपरूपको की सख्या मे अभिवृद्धि की । वर्त्तमान प्रादेशिक भाषा-नाट्य की कुछ विशेषताएँ इन उपरूपको मे मिलती है, किन्तु किसी एक उपरूपक को वर्तमान आचलिक नाट्य का उद्गम नही माना जा सकता । 'उल्लाप्य' नामक उपरूपक मे अक एक ही कहा गया है, विषयवस्तु पौराणिक और सवाद मे गीतो की बहुलताएँ मानी गई है । रासक मे विनोद का प्राधान्य, उच्च कुल का मूर्ख नायक, उच्च कुल की विदुषी नायिका, एक अक और पाँच पात्र बताये गये है। 'श्रीगदित' नामक उपरूपक मे सवाद अशत गाया जाता है और शेष वाचित होता है। हल्लीस मे भी एक अक और सगीत तथा नृत्य का बराबर प्रदर्शन होना चाहिए।

इन उपरूपको के उदाहरण लिखित रूप मे अप्राप्य है । इसलिए यह कहना कठिन है कि कहाँ तक प्रादेशिक परम्पराशील नाट्य की रूपरेखा इन लक्षणो पर आधारित है । कुछ प्रादेशिक नाटको के नाम कतिपय रूपको के वर्गो से मिलते-जुलते है, किन्तु लक्षणो मे साम्य नही है । उदाहरणत , कश्मीर का 'भाँडजश्न' सस्कृत-रूपक भाण की याद दिलाता है। किन्तु, कश्मीरी भाँड बहुपात्री और गीत तथा नृत्यो से भरपूर नाट्य है, जबकि सस्कृत-भाण एकपात्री गद्य-प्रधान विधा है, जिसमे पात्र नेपथ्य की ओर उन्मुख होकर विभिन्न कल्पित पात्रों से वार्त्तालाप करता है । सस्कृत-भाण और आगरा एव लखनऊ के नवाबी जमाने के भाँड-प्रदर्शनो मे बहुत कुछ साम्य है, दोनो के कलाकार प्रत्युत्पन्नमति और विनोदशील होते है, किन्तु आगरा-लखनऊ के भाड उस नेपथ्य-शैली का अनुसरण नही करते, जो चतुर्भाणी की विशेषता है । आन्ध्र के भागवत-मेल नृत्य-गीत-नाट्य को 'वीथिनाटकम्' भी कहा जाता है । 'वीथी' रूपकों का एक प्रकार भी है, जिसमे एक अक और दो पात्रों तथा परिहास, व्यग्य, श्लेष इत्यादि का विधान है और इसलिए दोनों की शैली भिन्न ही मानी जायगी । असम के मठो मे प्रस्तुत किये जानेवाले 'अकिया नाट' का नाम रूपको के एक विभेद 'अक' से मिलता है, किन्तु दोनो एक नहीं है, क्योकि सस्कृत अंक मे करुण रस प्रधान होना है, अंकिया-नाट मे अनेक रसो की परिस्थितियाँ दिखाई गई है, और गीत एव नृत्य की बहुलता तो है ही ।

तब वे कौन परम्पराएँ थी, जिनके आधार पर वर्त्तमान आचलिक नाट्य और रगमंच को परम्पराशील माना जाय? मेरी धारणा है कि इन परम्पराओ का विकास मध्ययुग

मे हुआ और पिछले लगभग पॉच सौ वर्षो से यह धारा अपने विभिन्न रूपो मे देश के विभिन्न भागो मे प्रवाहित होती रही है, क्षेत्रीय वर्ण और स्वरो को ग्रहण करते हुए भी इन नाट्य-शैलियो मे कतिपय सामान्य विशेषताएँ है, जो मध्ययुग की देशव्यापी परि-स्थितियो मे प्रकट हुई । आगे मै उनका उल्लेख करूँगा । किन्तु, उसके पूर्व मै एक ऐसी प्रदर्शन-शैली का जिक्र करना चाहता हूँ, जो सस्कृत नाट्य के मध्याह्न मे ही प्रकट हो गई थी, किन्तु परवर्त्ती लक्षणकारो ने जिसकी उपेक्षा की है। इस विधा का नाम है 'सगीतक' । मेरा विचार है कि 'सगीतक' ही वर्तमान आचलिक नाट्य-शैलियो का मूल है, और यद्यपि उत्तर भारत मे 'साग' और 'सागीत' नामो से प्रचलित ग्रामीण नाटको मे ही 'सगीतक' नाम की प्रतिध्वनि रह गई है, तथापि अन्य नामो से भी अभिहित नाट्य-शैलियाँ यथा जात्रा, माँच, रासलीला, भागवत-मेल, तमाशा, कूटियाट्टम इत्यादि—सभी 'सगीतक' के परवर्त्ती स्वरूप है ।

परम्पराशील नाट्य का उद्गम सगीतक

पहले 'सगीतक' शब्द के प्रयोग पर विचार कर लिया जाय । 'सगीतक' और 'सगीत' मे अन्तर है । सगीत शब्द प्राय वाद्यसहित वृन्दगान के लिए प्रयुक्त हुआ है । **रघुवंश** मे 'सङ्गीतमृदङ्गघोष' (१३।१८०) और **मेघदूत** मे 'सङ्गीताय प्रहतमुरजा' (उत्तरमेघ, १) ये उल्लेख मिलते है । भागवतकार ने भी गन्धर्वों द्वारा सुकण्ठ से सगीत के गाने का उल्लेख किया है —'जगु सुकण्ठ्यो गन्धर्व्य' सङ्गीतसहभर्त्तृका.' (भागवत, १०।८४।४६) । किन्तु, सगीतक मे सहगान और सहवाद्य-वादन के अतिरिक्त नृत्य, गीत, सवाद ये सभी तत्त्व मिलते है और जब रगशाला मे प्रेक्षको के सम्मुख इनका प्रदर्शन हो तभी उन्हें सगीतक कहा गया है । सगीत तो प्रेक्षागृह के अतिरिक्त भी प्रस्तुत होता था, किन्तु सगीतक के लिए रगशाला मे प्रदर्शन अनिवार्य था ।

अभिनय मे सगीत के समावेश का सकेत तो **नाट्यशास्त्र** के चतुथ अध्याय मे ही मिलता है । महादेव ने भरतमुनि द्वारा प्रस्तुत 'अमृतमन्थन' देखने के पश्चात् कहा कि उसके पूर्वरग के शुद्ध अभिनय मे करण, अगहार इत्यादि नृत्य के प्रकार और वर्द्धमानक, आसारित गीत और महागीत को जोड देने से यह 'चित्रसज्ञक' अभिनय हो जायगा (भरतनाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय, १५।१६) । किन्तु, इस सकेत के बावजूद सस्कृत-नाट्य-साहित्य के गौरव-ग्रन्थो मे गीत और नृत्य अल्प मात्रा में है, और जहाँ तक उपरूपको का सम्बन्ध है, उनके लक्षणो मे सगीत का उल्लेख होते हुए भी लिखित साहित्य मे उनके उदाहरण नही मिल पाते । कालिदास ने **मालविकाग्निमित्र** मे चार पदो से युक्त गीत दिया है और **शाकुन्तल** मे भी । **मृच्छकटिक** मे नेपथ्य से रेभिल द्वारा गाये गये राग का उल्लेख है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाटकों मे गीत और नृत्य का आरोपण एक नई प्रवृत्ति का द्योतक था । रगमच के प्रोड्यूसर, यानी प्रयोक्ता ऐसे नाट्य की माँग करने लगे, जिनमें प्रदर्शन-योग्य तत्त्वो की बहुलता हो । हमे सगीतक का सर्वप्रथम उल्लेख वररुचि-कृत **उभयाभिसारिका** नामक भाण में मिलता है । यह भाण चतुर्भाणी-संग्रह में शामिल है

और इसका रचनाकाल शायद चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसा के आसपास हो। **उभयाभिसारिका** मे मागरदत्त सेठ के पुत्र कुबेरदत्त ने विट के पास एक सन्देश भेजा और उसने नारायणदत्ता नामक अभिनेत्री से अनबन का कारण बनाते हुए कहा—'मैंने **मदनाराधन** नामक सगीतक मे रस के अनुसार किये गये मदनसेना के अभिनय की तारीफ की, तो नारायणदत्ता को नही रुची। इसीलिए वह कुपित है।' इस भाण मे **मदनाराधन** के अतिरिक्त **पुरन्दरविजय** नामक सगीतक का भी उल्लेख है। इन अवतरणो मे सगीतक के रसाभिनय का जिक्र किया गया है। रसाभिनय से ऐसे अभिनय का तात्पर्य है, जिसमें गीत की जातियो के समीचीन प्रदर्शन द्वारा नाटकीय रस का उद्रेक होता हो। कालिदास के **मालविकाग्निमित्र** नाटक मे 'सगीतक' का दो स्थलो पर उल्लेख है—'हन्त प्रवृत्त सङ्गीतकम्' (मालविका० १।१।२) और 'प्रारभ्यता सङ्गीतकम्' (मालविका० १।२०।२१)। बाणभट्ट की कादम्बरी मे राजभवनो मे सगीतको के लिए एक अलग 'सगीतकगृह' नामक स्थान का उल्लेख है, जहाँ मृदुध्वनि से ठनकते हुए मृदगो का शब्द सुनाई पडता था। उसके बाद ग्यारहवी शताब्दी मे यादवप्रकाश की **वैजयन्ती** मे सगीतक की विशेषता का वर्णन हुआ है। पन्द्रहवी शताब्दी मे शुभकर के ग्रन्थ **संगीतदामोदर** मे सगीतक की व्याख्या मिलती है

तालवाद्यानुगं गीतं नटीभिर्यत्र गीयते।
नृत्यस्यानुगतं रङ्ग तत् सङ्गीतकमुच्यते॥

जिस प्रदर्शन मे ताल-वाद्यो के अनुसार नटियाँ गाती है और रगशाला मे नृत्य प्रस्तुत करती है, उसे 'सगीतक' कहा जाता है। यहाँ सगीतक के पाँच तत्त्व स्पष्ट हैं—गीत, वाद्य, नृत्य, रगशाला और नट-नटी।

शुभकर द्वारा की गई व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दी तक सगीतक का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो चला था और मध्ययुग मे उसके ग्रहण किये जाने मे एक ही कमी थी—सवाद, विशेषत गद्य-सवाद की। इसी समय मिथिला, नेपाल और असम मे भाषा-सगीतको की रचना प्रारम्भ हुई, जिनमे इस कमी को पूरा किया गया। भाषा-सगीतको मे सबसे पुराना उमापति उपाध्याय का **पारिजातहरण** माना जाता है। हाल ही मे ज्योतिरीश्वर ठाकुर के पूर्वरचित सस्कृत-प्रहसन **धूर्तसमागम** का भाषारूपान्तर डॉ० उमेश मिश्र और डॉ० जयकान्त मिश्र ने सम्पादित किया है, शायद यह भाषारूपान्तर भी १४वी शताब्दी के प्रारम्भ मे मिथिला के उन्ही कर्णाटनरेश हरदेवसिंह के दरबार के लिए प्रस्तुत किया गया था, जिनके आदेश पर उमापति उपाध्याय ने **पारिजातहरण** लिखा। सगीतक शब्द का व्यवहार ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने भी **धूर्तसमागम** की सस्कृत-प्रति मे किया है—'तत् प्रेयसीमाहूय सङ्गीतकमवतरामि।' इसके बाद १५वीं शताब्दी मे विद्यापति के **गोरक्षविजय** नामक भाषा-नाटक मे भी सगीतक शब्द का स्पष्ट प्रयोग मिलता है:

भनइ विद्यापति पुरवयु आसा। मंगल करहू देव दिगवासा।
अलमतिविस्तरेण। ततो नटीमाहूय सङ्गीतकमवतारयामि॥

मिथिला मे ज्योतिरीश्वर ठाकुर, उमापति उपाध्याय और विद्यापति और असम में शकरदेव, माधवदेव, गोपालअता इत्यादि ने सवाद के सहित इस प्रदर्शनमूल विधा की कल्पना की।

उन्होने उसे सगीत-मात्र के प्रस्तुतीकरण के दायरे से बाहर निकालकर काव्य के प्रमुख तत्त्वो के लिए वाहन बनाया । यो चौदहवी, पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी मे लगभग सारे भारतवर्ष मे सगीतक-शैली की ओर कवियो और प्रयोक्ताओ का ध्यान आकृष्ट हुआ।

सगीतक-शैली की उद्भावना पूर्व-मध्ययुगीन भारतवर्ष मे कतिपय सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो के कारण हुई । जिस समय सस्कृत-नाटक ह्रासोन्मुखी हो रहा था, उस समय चार बातो का जनता की मनोवृत्ति और कला एव साहित्य के विधायको पर विशेष प्रभाव पडा । प्रथम तो यह कि पुराणो के आधार पर भागवत धर्म के प्रति आस्था जनसाधारण के बीच बढती ही गई । यह भागवत धर्म केरल से हिमाचल तक सारे देश मे ठीक उन दिनो मे छा गया, जिन दिनो उत्तर भारत मे तीव्र गति मे मुसलमानी राज्य विस्तृत हो रहा था । भागवत धर्म ने ब्रम्न समाज को आश्रय दिया और इस तरह मनोरजन और साधना दोनो एक ही पथ पर आ मिले। दूसरे, इसी पूर्व-मध्ययुग मे (दसवी से सोलहवी शताब्दी तक) देश के कुछ भागो मे रगमच को राज्य का आश्रय मिलना कम होता चला गया और इसके फलस्वरूप मन्दिरो, धार्मिक स्थानों, मेलो इत्यादि मे अनौपचारिक रूप से नाट्य-प्रदर्शन अधिकाधिक होने लगे । किन्तु, इसी युग मे देश के कुछ कोनो मे हिन्दू नरेशो ने न केवल नाट्य-प्रदर्शन को आश्रय दिया, वरन् स्वय नई नाट्य-विधाओ के विकास मे नेतृत्व दिया। वस्तुत, इन-राज्यों में ही महल और मन्दिर का सम्मिलित सरक्षण पाकर सगीतको का स्वरूप निखर सका। तीसरे, इसी युग मे क्रमश' सस्कृत का ज्ञान जनसाधारण मे कम होने लगा और नाट्य में प्रेषणीयता बढाने के लिए देशी भाषा मे गीतो का समावेश किया जाने लगा। **विक्रमोर्वशी** के चतुर्थ अक की एक विशेष पाण्डुलिपि का विद्वानो ने जिक्र किया है । इसमे कुछ अपभ्रश-गीत दिये गये है । डॉ० कीथ और डॉ० हीरालाल जैन ने इन १६ पदो की भाषा के आधार पर इन्हे हेमचन्द्र के बाद और **प्राकृतपैगलम्** के पूर्व की रचना माना है, यानी १२वी शताब्दी के लगभग । जान पडता है कि जनसाधारण के मनोरजनार्थ और नट-नटियों की सुविधा के लिए अपभ्रश मे ये गीत रखे गये । उन दिनो अपभ्रंश मे चर्यापदों के गीत तो प्रचलित थे ही । उसी ढग के भाषा-गीतो को सस्कृत-प्राकृत नाटको मे शामिल किया जाने लगा ।

इस युग की चौथी विशेषता थी जयदेव के **गीतगोविन्द** की प्रस्तुतीकरण-शैली । जयदेव का **गीतगोविन्द** भारतवर्ष की नाट्य-परम्परा मे एक लोकप्रवर्त्तक काव्य के रूप में अवतीर्ण हुआ। श्रीमद्भागवत के दशम खण्ड के रास-प्रसंग को नृत्य और सगीत मे सम्बद्ध करके जयदेव ने न सिर्फ दृश्य-प्रबन्ध का विकास किया, वरन् एक नूतन सवाद-पद्धति को भी प्रचलित किया, जिसमे सलाप और सूत्रधार प्रधान होते हैं । इस पद्धति में सूत्रधार को बराबर उपस्थित रहना पडता है . पहले सूत्रधार द्वारा मंगलाचरण तथा सूचना, उसके बाद अन्य पात्रो द्वारा ध्रुवपद-सहित सलाप। इसमें सुविधा यह थी कि जब सूत्रधार स्तुति और सूचना-बोधक श्लोको को बोलता था तब आगे आनेवाले संलाप के लिए पात्र तैयार हो सकता था । इस अवकाश की जरूरत इसलिए भी थी कि हर कथन, गीत तथा सलाप को

गान एवं नृत्य के साथ प्रस्तुत किया जाता था । इस सुविधा के कारण केरल से असम तक, सौराष्ट्र से उत्कल तक **गीतगोविन्द** मन्दिरो और राजप्रासादो मे खेला जाने लगा ।

भाषा-सगीतको का विकास प्रथम चरण
(लगभग १००० ई० से १५०० ई० तक)

केरल, मिथिला-नेपाल, असम, उडीसा, व्रजमण्डल एव आन्ध्र-कर्णाटक मे अनुकूल स्थानीय परिस्थितियो और नेतृत्व के फलस्वरूप इस विधा का विकास हुआ और इन्ही क्षेत्रो से इनका विस्तार सन्निकट भाषा-क्षेत्रो मे हुआ । भाषा-सगीतको को स्थानीय नाम दिये गये और कालान्तर मे नामो और भाषाओ के पार्थक्य के कारण इन शैलियो की मूलभूत एकता ओझल हो गई । किन्तु, उत्थान के प्रथम चरण मे इनके विकास की प्रवृत्तियाँ प्राय एक-सी ही थी । उदाहरणत , लगभग इन सभी क्षेत्रो मे भाषा-सगीतको के उन्नायको ने कुछ लोक-प्रचलित नृत्य और गान-शैलियो को उन सस्कृत-उपरूपको इत्यादि पर आरोपित किया, जो शास्त्रसम्मत थे या उन सगीतको पर, जो नागरिक और अभिजात वर्गीय जीवन मे पसन्द किये जाते थे । लोकशैलियो और नागरिक शैलियो का यह सम्मिश्रण एक देशव्यापी प्रवृत्ति के रूप मे प्रकट हुआ । इस प्रवृत्ति का उद्भव आप-ही-आप नही हुआ । इसे आयोजित और रूपायित करने का श्रेय इनमे से हर क्षेत्र के कतिपय प्रतिभावान् व्यक्तियो को है, जिन्हे आज की भाषा मे सास्कृतिक नेता कहा जा सकता है । ये महापुरुष या तो काव्यरमज्ञ सन्त और धार्मिक नेता थे या सहृदय और रसिक राजा एव राजपुरुष । दोनो ही बिखरी शृखलाओ को एकत्र करने मे समर्थ थे और यथावसर उपकरण और व्यक्तियो को जुटा सकते थे ।

तीसरी उल्लेखनीय बात यह थी कि भाषा-सगीतको के ये उन्नायक न केवल साहित्य मे पारगत थे, वरन् प्रदर्शन-विधाओ (रगशाला, सगीत, नृत्य इत्यादि) मे भी असाधारण रूप से कुशल थे । ये लोग सरक्षक-मात्र और सहृदय ही नही थे, कविकर्म से ही परिचित नही थे, वरन् जिन्हे आजकल 'प्रोड्यूसर'—प्रयोक्ता कहा जाता है, उनकी श्रेणी में भी शामिल थे । रसज्ञ, कवि, गायक, सूत्रधार एव प्रयोक्ता के विविध ज्ञान और और कृतकर्म मे से अनेक मे जो एक साथ कुशल थे, वैसे गुणीजनो के प्रयास से जिस शैली का विकास हुआ, वह स्वभावत बहुरगी, प्रयोगशील और प्रेक्षागृह की बदलती आवश्यकताओ के सर्वथा अनुकूल थी । नवीन प्रयोगो को प्रेरित करने की क्षमता सन्तो अथवा राजाओ एव राजपुरुषो को ही हो सकती थी, क्योकि रगशाला मे प्रदर्शन के साधन वे ही लोग प्रस्तुत करा सकते थे ।

भाषा-सगीतको के उत्थान के प्रथम चरण मे केरल के राजा कुलशेखरवर्मन् का नाम सर्वप्रथम आता है । दसवी शताब्दी मे ही उन्होने सस्कृत-नाटको को जनसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने के विचार से मूल नाटको के साथ स्थानीय भाषा मे छायानुवाद रगशाला ही मे प्रस्तुत करने की परम्परा चलाई, जिसे 'कूटियाट्टम' की सज्ञा दी गई । 'कूटियाट्टम' का शाब्दिक अर्थ है मिला-जुला अभिनय और इस नाम मे ही कुलशेखरवर्मन का उद्देश्य अभिहित है । उस समय केरल के जनसाधारण मे मुटियेट्टु, तीयाट्टु,

पुराट्टु, यात्रकलि इत्यादि लोक-प्रदर्शन प्रचलित थे । इनकी एक विशेषता थी, विदूषक का तत्कालीन समाज पर व्यग्य । इन लोकविधाओ के विकास मे नम्बूतिरी ब्राह्मणो का विशेष हाथ था । इधर मन्दिरो मे चाक्यार नामक नटो का एकपात्री नृत्याभिनय लोकप्रिय हो चला था, जिसका विवरण सुविख्यात तमिल गौरव-ग्रन्थ 'शिलप्पधिकारम्' मे भी मिलता है । चाक्यार चम्पू और भाण की शैली मे अकेले ही अनेक पात्रो का अभिनय करता है एव अनेक ग्रन्थो से पद्य और कथाएँ उद्धृत कर दर्शको का मनोरजन करता है । चाक्यार के एकपाती अभिनय को 'कूत्तु' कहा जाता है ।

ऐसा जान पडता है कि कुलशेखरवर्मन ने लोक-प्रचलित पुराट्टु इत्यादि से विदूषक की शैली और मन्दिरो से चाक्यार की सामाजिक टिप्पणी-मूलक शैली का सस्कृत-नाट्य-प्रदर्शन के लिए उपयोग किया । उन्होने अपने ब्राह्मण-मन्त्री तोलन को अपनी मिश्रित शैली की निर्देशन विधियो को लिपिबद्ध करने का आदेश दिया । तोलन ने अपने ग्रन्थ 'वाग्येय-व्याख्या' मे इस नई पद्धति का विवेचन किया । भरत ने नाट्य की भूमिका-स्वरूप जिस रूप मे पूर्वरग का आयोजन किया था, उसमे कुलशेखरवर्मन ने लोकनाट्य के चाक्यार और विदूषक का मिश्रण किया । यही नही, मूल सस्कृत-नाटक मे भी चाक्यार को विदूषक की भूमिका मे प्रस्तुत कर उन्होने स्थानीय भाषा मे टिप्पणी, व्याख्या एव सामाजिक परिहास की पद्धति का सस्कृत नाट्य-प्रदर्शन में समावेश कर दिया । 'कूटियाट्टम' मे अकेला चाक्यार कई रात्रियाँ पूर्वरग मे ही गुजार देता है, और मुख्य नाटक-प्रदर्शन अन्तिम तीन रजनियो में होता है । विदूषक नाटक के प्रसगानुसार समसामयिक सामाजिक जीवन और समस्याओ का विश्लेषण कर देता है । भास, श्रीहर्ष और स्वय कुलशेखरवर्मन के सस्कृत-नाटको को इस मिश्रित रूप मे प्रस्तुत करने की प्रणाली तब से बराबर केरल में त्रिचूर के मन्दिरो की रगशालाओ मे चालू रही है । कुलशेखरवर्मन का 'सुभद्राधनंजय' नाटक बहुत प्रसिद्ध है । इन रगशालाओ को 'कूथाम्बलम्' कहा जाता है । अभिनय मे भरत द्वारा निर्दिष्ट आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्वती प्रकारो का यथाविधि पालन किया जाता है । हस्तमुद्राओ द्वारा सवाद के प्रत्येक पदाश का निरूपण किया जाता है । 'कूथाम्बलम्' का निर्माण भी विकृष्ट मध्यम कोटि के मण्डप के आधार पर होता है ।

इस तरह भाषा नाटको का आदिस्वरूप सुदूर दक्षिण मे प्रकट हुआ । कुलशेखरवर्मन के इस प्रयोग की तीव्र समालोचना भी हुई और प्राचीनता के पोषक एक पण्डित ने तो 'नटाकुश' नामक ग्रन्थ इस नवीन प्रयोग के विरोध मे लिखा और सस्कृत-नाटकों मे इस प्रकार अप्रासगिक भाषा-तत्त्वों के शामिल किये जाने की भर्त्सना की । विजय अन्तत. कुलशेखरवर्मन की ही रही, क्योकि जिस प्रयोग का उन्होने सूत्रपात किया, वह वस्तुत: एक देशव्यापी प्रवृत्ति का द्योतक था ।

आजकल जिन प्रदेशो को कर्णाटक और आन्ध्र कहा जाता है, वहाँ द्वितीय चालक्य-वश (लगभग ११०० ई० से १३६० ई०) के राज्यो मे सस्कृत से तत्कालीन क्षेत्रीय भाषाओं के नाटको अथवा उनके पदो के अनुवाद होने लगे थे । इसका एक प्रमाण

नागवर्मा द्वितीय (११४५ ई०) के ग्रन्थ **काव्यावलोकन** मे मिलता है, जहाँ **विक्रमोर्वशी** (अक १, श्लोक ३), तथा **नागानन्द** एव **मालतीमाधव** से कतिपय पद्य स्थानीय भाषा-(जो अब कन्नड कहलाती है) मे उद्धृत किये गये है। साथ ही, इसी युग मे कुछ देश्य प्रदर्शन-शैलियो का भी कर्णाटक मे विस्तार होता गया। ६वी शताब्दी म ही नृपतुग ने अपने **कविराजमार्ग** नामक ग्रन्थ मे 'नालपगरन' शैली का उल्लेख किया है, जिसे कुछ विद्वान् 'देश्य प्रकरण' का स्वरूप मानते हैं (दे० डॉ० एच्० के० रगनाथ : **दि कर्णाटक थिएटर**)। १२वी शताब्दी मे यक्कलगान का भी कर्णाटक मे उल्लेख मिलता है, जो बाद मे यक्षगान कहलाने लगा। काकतीय राजाओ ने वीर शैवमन्दिरो मे विशेष मण्डपो का निर्माण कराया, जिनमे वीर शैवमत का निरूपण करनेवाले नृत्य-नाटको का प्रदर्शन होता था (दे० 'कुचिपुडि भागवतम्' पर सगीत-नाटक-अकादमी के लिए श्रीनटराज रामकृष्ण का लेख)। ऐसा जान पडता है कि यही वीर शैवमताग्रही यक्षगान बाद मे भागवत यक्षगानो मे परिवर्त्तित हो गये, क्योकि इस बीच तेजी के साथ भागवत धर्म का विस्तार हुआ। कन्नड कवि और विद्वान् श्री डी० आर० वेन्द्रे का अनुमान है कि १२वी शताब्दी से १७वी शताब्दी की अवधि मे कर्णाटक मे नृत्य-नाटको का विशेष विकास हुआ।

कर्णाटक-आन्ध्र-क्षेत्र मे इस शैली की प्रगति के साथ साथ उत्तरी भारत के पूर्वोत्तर अचल यानी मिथिला और नेपाल मे भी इस देशव्यापी प्रवृत्ति (यानी नाट्य मे भाषा का उपयोग और नृत्य-सगीत और सवाद का सम्मिलित प्रयोग) का विकास हुआ। ग्यारहवी शताब्दी के अन्त मे चालुक्यवशीय नरेश सोमेश्वर प्रथम और उनके पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ ने उत्तरी भारत पर कई आक्रमण किये और ऐसा अनुमान किया जाता है कि विक्रमादित्य ने गौड और मिथिला को भी आक्रान्त किया। इन चालुक्य-नरेशो के एक सामन्त थे—नान्यदेव, जिन्होने स्वरचित भरतनाट्यशास्त्र की टीका मे अपने को 'सामन्ताधिपति' और 'कर्णाटकुलभूषण' कहा है। इन्ही नान्यदेव ने अपने चालुक्यस्वामी की छत्रच्छाया में मिथिला को हस्तगत किया और कुछ समय बाद चालुक्य-स्वामित्व से छुटकारा पाकर सन् १०९७ ई० के आसपास मिथिला मे कर्णाट-वश की स्थापना की (दे० हिस्टरी ऑव मिथिला . उपेन्द्र ठाकुर)। इसकी राजधानी अरसे तक सिमराँव नामक स्थान मे थी, जो आजकल चम्पारन जिले और नेपाल की सीमा पर पडता है। इस कर्णाट-वश का राज्य लगभग २२६ वर्ष मिथिला मे और उसके बाद नेपाल मे रहा। इस अवधि मे मिथिला-नेपाल का कर्णाटक-आन्ध्र के साथ सास्कृतिक सम्बन्ध परिपुष्ट हुआ। स्वयं नान्यदेव द्वारा की गई भरतनाट्यशास्त्र की टीका मे अनेक दाक्षिणात्य राग-रागिनियो का सविस्तर विवरण है। दाक्षिणात्य सस्कृति के प्रभाव और उसके साथ आदान-प्रदान के अनेक प्रमाण मिले है, जिनका आगे जिक्र किया जायगा।

मिथिला-नेपाल के कर्णाटवश के सबसे प्रसिद्ध राजा थे हरसिंहदेव (अनेक विद्वान् हरिसिंहदेव नाम को सही मानते है)। इनका समय सन् १३०७ से लगभग १३३० ई० तक माना जाता है। इनके राज्यकाल की सबसे प्रामाणिक तिथि है सन् १३२४ ई०, जब ग्यासुद्दीन तुगलक ने इनकी राजधानी पर आक्रमण किया और इन्हे नेपाल भागकर वहाँ

अपने राज्य का विस्तार करना पड़ा । यही हरसिंहदेव मिथिला-नेपाल में भाषा-संगीतकों की शैली के उन्नायक थे । हाल तक इस शैली के नाट्य-प्रदर्शन मिथिला में 'कीर्त्तनिया नाच' और नेपाल में 'कातिक नाच' के नामों से विदित रहे हैं ।

हरसिंहदेव का दक्षिण राज्यों से पत्र-व्यवहार और सम्पर्क रहा (जैसा चण्डेश्वर ठाकुर के **राजनीतिरत्नाकर** से जान पड़ता है) और मेरा अनुमान है कि कर्णाटक-आन्ध्र तथा केरल में संस्कृत-नाटकों के प्रदर्शन में भाषा-पदों अथवा टिप्पणी के आरोपण की नूतन पद्धति से वे प्रभावित हुए । हरसिंहदेव के राजदरबार की दो विभूतियों ने अपने संरक्षक के आदेश पर उत्तरी भारत के सर्वप्रथम भाषा-संगीतकों की रचना की । ये थे उमापति ठाकुर और कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर । उमापति ठाकुर का **पारिजातहरणनाटक** और ज्योतिरीश्वर ठाकुर का **भाषाधूर्त्तसमागम** दोनों कृतियाँ भारतीय नाट्य के इतिहास में युगान्तरकारी प्रयोग थे, जिनका प्रभाव भाषा-संगीतकों पर जयदेव के **गीतगोविन्द** के बाद सबसे अधिक व्यापक रहा है । **पारिजातहरण** अबतक प्राप्त ऐसा प्रथम सम्पूर्ण नाटक है, जिसमें संस्कृत-प्राकृत-संवाद के साथ-साथ पात्र-पात्री भाषा में गीत गाते हैं और ये गीत नाटक के अभिन्न अंग हैं और मूल लेखक की ही रचना हैं । **भाषाधूर्त्तसमागम** (जिसके अनुसन्धान में डॉ० जयकान्त मिश्र ने स्पृहणीय कार्य किया है) इसलिए महत्त्वपूर्ण है, कि मूल संस्कृत **धूर्त्तसमागम** प्रहसन के रचयिता कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने स्वयं अपने ही प्रहसन में बाद में भाषा-गीतों का आरोपण किया । अनेक गीतों में उनका नाम भी मिलता है ।

उमापति ने **पारिजातहरण** में जिस तरह भाषागीतों का समावेश किया, यह नाटक के इस अवतरण में लक्षित है

श्रीकृष्णः—(बद्धाञ्जलि) प्रिये प्रसीद । मानिनि ।

(मालवरागे गीतम्)

अरुन पुरुब दिसि बहिल सगरि निसि गगन मगन भेल चन्दा ।
मुनि गेलि कुमुदिनि तइओ तोहर धनि मूनल मुख अरबिन्दा ।।

(एतस्मिन्नर्थे श्लोकः)

रुचिर्गलति कौमुदी शशिनि कौमुदी हीयते
वदन्ति कमलन्ततः शृणु समन्ततः कुक्कुटाः ।
पुरोदिगतिरोहिता परितिरोहितास्तारकाः
कथं तव वरोरुहे मुखसरोरुहे मुद्रणम् ।।

× × × ×

मानिनि ।

अबगुन परिहरि हरखि हेरु धनि मानक अबधि बिहाने ।
हिमगिरि-कुमरि चरन हृदय धरि सुमति उमापति भाने ।।

(अथवा केदाररागे गीतम्)

मानिनि मानह जउँ मोर दोसे ।
सांति करह बरु न करह रोसे ।।

कुचिपुडि शैली के सिद्धहस्त कलाकार
श्रीवेदान्तम् सत्यनारायणम्
'सत्यभामा' की भूमिक मे

भौंह कमान बिलोकनि बाने ।
बेधह बिधुमुखि कय समधाने ॥
पीन पयोधर गिरिबर साधी ।
बाहुपास धनि धरु मोहि बाँधी ॥
की परिनति भय परसनि होही ।
भूखन चरन कमल देह मोही ॥
सुमति उमापति भन परमाने ।
जगमाता देइ हिन्दुपति जाने ॥

सत्यभामा—(प्रणम्योत्थाय)

(केदाररागे गीतम्)

ताहि अवसर ताहि ठाम । माधव । किए बिगरल मोर नाम ॥
आव कि करब परकार । माधव । अपजस भरल सँसार ॥
सबहु पाओल अबकास । माधव । जग भरि कर उपहास ॥
कोन परि सखि समसाथ । माधव । उपर करब हम माँथ ॥
जाहि देखि हसलहु कालि । माधव । से आब देअ करतालि ॥
परम करम मोर बाम । माधव । सकर तकर परिनाम ॥
सुमति उमापति भान । माधव । सुपहु करब समधान ॥
हिंदूपति जिउ जान । माधव । महेसरि देइ बिरमान ॥

(इति मूर्च्छति)

श्रीकृष्णः—(उत्थाप्य) प्रिये समाश्वसिहि ।

सत्यभामा—(आश्वास्य) अज्जउत्त आसासो विमे लज्जा अरो ।

इस अवतरण में संस्कृत-प्राकृत-संवाद मे जनसाधारण के लिए रुचिकर, लयताल-पूर्ण गीतात्मकता का समावेश अप्रत्याशित रूप से परिमार्जित और स्वाभाविक प्रतीत होता है और विश्वास नही होता कि यह इस प्रकार का प्रथम प्रयोग था ।

ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'भाषाधूर्त्तसमागम' मे इस शैली की सन्धिकालीन प्रयोगात्मकता का अधिक आभास होता है, क्योकि कवि ने अपनी ही मूल संस्कृत-प्राकृत-रचना मे भाषागीतो का समावेश किया है

असज्जाति :—(अनंगसेनामानीय स्वसन्निधावुपवेश्य तदीयकरे हृदयं निधाय सप्रमोदम्)

विकचकमलकोषश्रीरिय काम्यकान्ति-
हिमकरकरजाताच्चन्द्रकान्ताद्धि शीतः ।
मृगमदघनसारामोदसौरभ्यभव्यो
हरति मदनतापं कोमलः पाणिरस्याः ॥

(क्षणं विचार्य्य पुनरुच्चैर्विहस्य)

भो वादिनावेतद्राज्यक्षेत्रे धूर्त्तयोरिव युवयोर्विवादः। तथा हि—

नैषा त्वदीया भवतोपि नेयं
मत्सन्निविष्ठा सुभगामदीय न
स्वप्नेपि पूर्व्वं मयि ज्ञातकेलि—
स्ततोपि हेतोः खलु वल्लभा मे ॥

देशाषरागे ॥ एकतालिताले ॥

तोहारे ओ नहि के सनातक भगव तोहरि नहि नारी ।
हमारेए हमरा लग अछ बैसलि परतष हलिअ बिचारी ॥ ध्रुवं ॥
परुकाँ सपने हमे अवलोकलि हमरि तेहि के न जाने ।
हारल भगव सनातके दुहु जने तन्हि असजातिक थाने ॥
कविशेषर जोतिक एहु गावे राए हरसिंह बुझ भावे ॥

विदूषकः—(अनंगसेनामालोक्य जनान्तिकं) एसो भिस्सो बुद्धो भअवं णिद्धणो सणादगे मिच्छारआओ ता एदाणं समागम परिहरिअ । अम्हसमागमेण तुम्ह योव्वण सफलं भोदु—

(इत्यात्मानं दर्शयति)

अनंगसेना—(सस्मितं) कअ धुत्तसगनए फलहलणं सम्वुत्त ।

विश्वनगर—(सवैराग्यं) कोलावरागे । परिमच ताले ॥

अरे रे सनातक तोरिहि कुमान्ति ।
अनंगसेना हरि लेल असजाति ॥ ध्रुवं ॥
कतए विचार कराओल आनि ।
जन्हिक चरित सुन मूलनाशक जानि ।
हेरित हि हरि धन लए गेल चोर ।
हाथक रतन हरायल मोर ।
कके होएबह हरि अनुरागे ।
जोँकक अनाग गोतल न लागे ।
कविशेखर जोति एहु गाव ।
राय हरसिंह बूझए रस भाव ॥

विश्वनगरः—वत्स दुराचार न हि जलौकसामंगे जलौका लगति । मूलनासकस्यायं विचारः तदेहि सुरतप्रियास्थान गच्छावः ।

(इति निष्क्रान्तौ द्वाविति ।)

जिस भाँति केरल के कुलशेखरवर्मन ने अपने ब्राह्मण-मन्त्री तोलन को अपने मनोनुकूल नई नाट्य-विधा का निरूपण करने के लिए आदेश दिया, उसी भाँति जान पड़ता है कि हरसिंहदेव ने ज्योतिरीश्वर ठाकुर को रंगशाला की नवीन आवश्यकताओं और विधाओं

पर निर्देशन लिपिबद्ध करने के लिए प्रेरित किया । ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने ये निर्देशन भाषा में दिये, सस्कृत मे नहीं । उनका **वर्णनरत्नाकर** मध्ययुगीन भाषा में तत्कालीन समाज और कलाओ का दर्पण है । **वर्णनरत्नाकर** के छठे कल्लोल मे नटो, नटियों, विद्यावन्तों इत्यादि का जो वर्णन है, वह जान पडता है, उस समय के नट-नटियो, के लिए एक प्रकार का मैनुएल या निर्देश-पत्रिका है और यह स्वाभाविक ही है कि यह निर्देश-पत्रिका 'भाषा' में लिखी गई । 'धूर्त्तसमागम' की मूल सस्कृत-प्रति मे ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने 'सगीतक' शब्द का व्यवहार किया है 'तत् प्रेयसीमाहूय सङ्गीतकमवतरामि' । ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने इस प्रहसन की रचना इसे सगीतक-पद्धति मे प्रदर्शित करने के लिए ही की थी।

ज्योतिरीश्वर ठाकुर और उमापति की रचनाओ का कितना व्यापक प्रभाव पडा, इसका एक प्रमाण यह है कि दक्षिण मे **धूर्त्तसमागम** और **पारिजातहरण** दोनो ही रचनाएँ लोकप्रिय हुई । विजयनगर के नरेश नरसिंहराय (जिनका समय सन् १४७८ ई० के आसपास माना जाता है) के दरबार मे **धूर्त्तसमागम** का अभिनय हुआ था, यद्यपि यह ज्ञात नही कि अभिनय मूल सस्कृत-प्रहसन का हुआ था अथवा भाषागीत-मिश्रित प्रहसन का (दे० श्रीशालेतूर का 'सोशल ऐण्ड पोलिटिकल लाइफ इन द विजयनगर एम्पायर') । विजयनगर के राजदरबारो मे अवश्य ही भाषा-सगीतको का प्रचार हुआ और विशेषत कृष्णदेवराय के राज्यकाल मे इस शैली को प्रोत्साहन मिला । किन्तु, ऐसा जान पडता है कि दक्षिण के राजदरबारो मे इस शैली के प्रचार के बावजूद इसे प्रयोक्ता की प्रदर्शन-विधा ही माना जाता था । नाट्यकारो ने इस तरह की रचनाएँ प्रस्तुत करना शुरू नही किया था (दे० श्रीकुन्दनगर का निबन्ध . 'डिवेलपमेण्ट ऑव कन्नड ड्रामा' बम्बई रॉयल एशियाटिक सोसायटी) ।

मिथिला-नेपाल मे ज्योतिरीश्वर ठाकुर और उमापति ठाकुर ने इस शैली को नाट्य-साहित्य का अभिन्न अंग बना दिया । **वर्णनरत्नाकर** निस्सन्देह रगशाला और नाटककारो के बीच कडी बनी और यो मिथिला-नेपाल मे जो नाट्य-परम्परा स्थापित हुई, वह १४वी शताब्दी से १६वी शताब्दी के मध्य तक निरन्तर प्रवाहित होती रही । यह सिलसिला इसलिए जारी रह सका कि इस क्षेत्र मे एक के बाद एक हिन्दू-राजवश या तो स्वाधीन या दिल्ली-जौनपुर के सरक्षण मे लगभग स्वाधीन रूप मे कायम रहे । हरसिहदेव के नेपाल चले जाने के बाद नेपाल मे सन् १३५३ ई० से लगभग १५५६ ई० तक ओइनवर-वश का ब्राह्मण-राजवश रहा, जिसने कर्णाट-वश की धरोहर को जारी ही नही रखा, वरन् उसे समृद्ध किया । इसी ओइनवर-वश के सरक्षण मे विद्यापति (लगभग सन् १३६० मे १४४८ ई०) की प्रतिभा ने उत्तरी भारत को चमत्कृत किया और सन्धिकालीन भाषा-साहित्य को सस्कृत-साहित्य के समकक्ष ला बिठाया । विद्यापति के भाषा-नाटक **गोरक्षविजय** की पाण्डुलिपि स्वर्गीय महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र और उनके सुपुत्र डॉ० जयकान्त मिश्र के सत्प्रयास से हाल ही मे प्रकाश मे आई है (गोरक्ष-विजय नाटक विद्यापति, अखिलभारतीय मैथिली साहित्य-समिति, तीरभुक्ति, इलाहा-बाद–२) । इसमे उमापति और ज्योतिरीश्वर की पद्धति मे संस्कृत-प्राकृत सवादो के साथ

राग-रागिनी-बद्ध भाषागीतो का समावेश किया गया है । उपलब्ध पाण्डुलिपि मे २५ गीत है । भाषा-नाट्य के इतिहास मे इस नाटक की महत्ता के दो अन्य कारण है । एक तो विद्यापति ने इस शैली के रग-प्रदर्शन के लिए 'सगीतक' शब्द का व्यवहार किया है । नान्दी के बाद ही सूत्रधार कहता है 'अलमतिविस्तरेण । ततो नटीमाहूय सङ्गीतक-मवतारयामि'। स्पष्ट है कि १५वी शताब्दी के प्रारम्भ तक यह शब्द रंगशाला के प्रेक्षको के बीच इतना प्रचलित हो गया था कि विद्यापति ने विना झिझक के उसका उल्लेख किया है । दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नाटक मे दक्षिण के नटो और उनकी नृत्य-विधि को शामिल किया गया है । तेलग देश के नट अपना साभिनय नृत्य प्रदर्शित करते है, गीत गाते है और राजा उन्हे अपने यहाँ रखना भी चाहता है । निम्नलिखित उद्धरण मे (जिसके कुछ शब्द लुप्त है) राजा मीननाथ के विलास का वर्णन है और उसके बाद तेलग देश के नटों का ·

(राजा कामपीडितोत्पलनयनां स्पृशति काममपि पश्यति कामालिङ्गति च ।)

मालवरागे ।

कुच हास न कुसुम वास ।।
मुदित मदन तिमिर हास ।
खंजन लोचनि कमल मुखी ।
मुख देखि मने परम सुखी ।। ध्रुवं ।।
खेल नरपति युवति संगे ।

काहु आलिगए काहु निहार । काहु लिलोपन मलाञो मार ।।
काहु बुझाव बिसेषि सिनेह । पुलके मुकुल मण्डित देह ।।
बहुल कामिनि एकल कंत । कृष्ण पति आएल सयन तंत ।।
रूपे से नागर नागर रससिंगार । कौतुके गाव कविकण्ठहार ।।

(ततः अपटीक्षेपेण प्रतिहारी प्रवेशः)

(प्रतिहारी)—अहो अहो महाराओ, तेलंग . . . एदौ नटे तिट्ठद । यथा आँणवेदि ।

मलारी रागे ।

तेलंग देसकें नट चओ तुरंग ।
नाच मे चाह माण्डि रस रंग ।।
. . . .
दखिन देशकें देखब नाञ्च ।। ध्रुवं ।।
कह प्रतिहारी अवसर आए ।
बात जनाब भूमि सिर लाये ।
निते निते वे दिवस सुख जाए ।
नाट्य लावे संसारक सार ।

भनइ विद्यापति कवि कण्ठहार ॥

राजा—सत्वरं तौ नटौ प्रवेशय ।

(यथाकुलवति अपटीक्षेपेण यथा निर्दिष्टौ नटौ प्रविशतः ।

नटौ—नृपं प्रणमतः । राजा मोत्साहं आज्ञापयति)

राजा—अरे नटौ कस्मात् युवां ।

नटौ कथयतः—दक्षिणदेशादागताविति ।

राजा—तर्हि नृत्य ।

(तौ तथा कुरुतः)

बरडीरागे ।

ताण्डव लास अंत भल नाचसि ।
चारिहु अंग समासे ।
ज गावसि से चित्र देखावसि ।
जे भावसि से बोले ॥ ध्रुवं ॥
तोरे गुने र........
मलारी ॥

राजा— रहिह नटवहु हमरा सेवा ।
जे तुअ मनोरथ से हमे देवा ॥....इत्यादि ।

विद्यापति का यह नाटक सन् १४१६ ई० के आसपास रचा गया और राजा-शिवसिंह की आज्ञा से खेला गया । यह स्पष्ट है कि उस समय तक अनेक राजदरबारो मे सस्कृत-प्राकृत-नाटको मे भाषागीतो का समावेश और नृत्य-गीत-बहुल प्रदर्शन की पद्धति का प्रचार यत्र-तत्र हिन्दू-राजदरबारों मे हो चला था, विशेषत· मिथिला-नेपाल मे प्रसूत संगीतक-शैली की सफलता के फलस्वरूप । दो अन्य क्षेत्रो मे इस शैली का विकास हुआ जान पडता है—उत्कल और विजयनगर-राज्य । जैसा ऊपर कहा गया है, विजयनगर (आन्ध्र-कर्णाटक) मे भाषा-सगीतक की कोई तत्कालीन (१६वी शताब्दी के पहले की) रचना नहीं मिलती, यद्यपि ज्योतिरीश्वर के प्रहसन के अभिनय का उल्लेख है और विद्यापति के नाटक से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस क्षेत्र से नट लोग उत्तर भारत के राजदरबारो मे भाषासगीतको के अभिनय मे हिस्सा लेते थे । किन्तु, उत्कल मे हरसिंहदेव द्वारा प्रेरित शैली का एक लघु, किन्तु रोचक उदाहरण मिलता है । सन् १४३५ ई० के आसपास उत्कल-नरेश गजपति कपिलेन्द्रदेव ने अपने सस्कृत-प्राकृत **परशुरामविजयव्यायोग** मे निम्नलिखित भाषागीत सम्मिलित किया

राजा—देवि किमद्य रात्रौ स्वप्न उपलब्धः ?

चन्द्रवदना—अज्ज शुणिअदु । (गीताभिनय करिबा)

गीत

अमर रागण गोयते

केवग मुनिकुमर परश् दक्षिण कर

वामेण सोहे धनुशर ना ।

कोपेण बोलइ बीर नसु से मो बधिलु तात

आज तोर छेदिबइ माथ ना ।

शुण राजन हो किए तोर राज्ये ब्रह्म बधे ना ॥१॥

ये तो चन्द्रबदन मेघे ढाकिला जहन

ताहा देखि बिकल मो मन ना ।

आबर देखइ अरष्टि राज्यो तो रुधिर वृष्टि

पुर बेढि रोदन्ति शृगाल ना ।

शुण राजन हो किए तोर राज्ये ब्रह्म बधे ना ॥ २ ॥

भाषा-सगीतको के उत्थान के प्रथम चरण (लगभग सन् १००० से १५०० ई० तक) मे हिन्दू-राजदरबारो के नेतृत्व मे केरल, आन्ध्र-कर्णाटक, मिथिला-नेपाल और उत्कल—इन अचलो मे जो शैली प्रचलित हुई, उसकी विशेषताएँ तीन थी—राजमहल का वातावरण, जयदेव के प्रभाव से नृत्यसगीत का आकर्षक समावेश और सस्कृत-प्राकृत मूल के बीच भाषा-गीतो का आरोपण । उत्थान के द्वितीय चरण मे, जो लगभग सन् १५०० से १६५० ई० तक माना जा सकता है, भाषासगीतक न केवल अन्य अचलो मे प्रतिष्ठित हुए, उनका निजत्व भी निखरा । इस द्वितीय काल मे सबसे बडा परिवर्त्तन यह हुआ कि भागवत धर्म—विशेषत वैष्णव मत—के सन्त प्रचारको ने भाषा-सगीतको को भगवान् की लीलाओ के प्रदर्शन तथा धर्म एव नीति के सन्देश का माध्यम बनाया । इस युगान्तरकारी प्रयोग का सारे देश पर व्यापक प्रभाव पडा और आजतक परम्पराशील नाट्य के अनेक आचलिक रूप उन महान् सन्तो की वाणी से स्पन्दित तथा उनसे प्राप्त कलाविधान से अलकृत है ।

परम्पराशील नाट्य और वैष्णव सन्त · द्वितीय चरण (लगभग सन् १५०० से १६५० ई० तक)

सन् १५०० ई० के आसपास दो परिस्थितियों के फलस्वरूप सन्तो ने भाषा-सगीतक को अपनाया । एक तो मन्दिरो मे जो देवदासियाँ भगवान् के विग्रह के सम्मुख और मण्डपों मे पूजन-नृत्य करती थी, उन्हे यह छूट भी मिल गई थी कि वे राजदरबार के नृत्य-सगीत-आयोजनो मे भी हिस्सा ले सके । इस छूट के कारण धार्मिक नृत्य-सगीत की पावनता कलकित हो चली थी । आन्ध्र मे इसके प्रतिक्रियास्वरूप कुछ निष्ठावान् ब्राह्मण आचार्यों ने धार्मिक विषयो पर नृत्यरूपको को प्रस्तुत करने के लिए मण्डलियाँ बनाईं, जिन्हे बाद मे नाट्यमेल या भागवत-मेल की सज्ञा दी गई । एक प्रमुख शर्त्त यह थी कि इन प्रदर्शनो मे कोई नारी भाग नही ले सकती थी । इस प्रकार के भागवत-मेल का सर्वप्रथम उल्लेख सन् १५०२ ई० के आसपास भी मिलता है, जब एक भागवत-

मण्डली ने विजयनगर के वीरनरसिहराय के सम्मुख एक अभिनय प्रस्तुत किया (दे० 'कुचिपुडी भागवतम्' पर अँगरेजी-निबन्ध · ले० श्रीनटराज रामकृष्ण, सगीत-नाटक-अकादमी)। उत्कल मे 'गोटिपुअ' कहलानेवाले बालको को पात्र-पात्री बनाकर मन्दिरो के बाहर सगीतनृत्याभिनय प्रदर्शित किये जाने लगे। ब्राह्मण आचार्यो ने इस भाँति एक सर्वथा नवीन परम्परा स्थापित कर दी, उन्होने रगमच का बहिष्कार न करके उसे स्वय हस्तगत करने की चेष्टा की और यद्यपि मन्दिरो मे होनेवाले देवदासियो के पूजन-नृत्य को वे समाप्त नही कर सके, तथापि उन्होने जनता के सम्मुख एक उतनी ही रोचक, किन्तु कही अधिक सयमशील और धार्मिक भावनाओ से ओतप्रोत नाट्य-पद्धति प्रस्तुत कर दी। इसके विपरीत पश्चिमी भारत के जैनमन्दिरो मे ११वी से १४वी शताब्दियो मे जैनरासको मे गान और नृत्य की बहुलता के कारण मन्दिरो मे नैतिक पतन की आशका मे उनका प्रदर्शन बन्द कर दिया गया। शायद इसीलिए जैनमत की लोकप्रियता अवरुद्ध हो गई और रासक गेय पद्धति-मात्र रह गये (दे० रास और रासान्वयी काव्य डॉ० दशरथ ओझा और डॉ० दशरथ शर्मा)।

आन्ध्र-कर्णाटक मे भागवतलु सन्तो द्वारा प्रेरित भाषा-सगीतको को भागवतम् कहे जाने लगा। विजयनगर के कृष्णदेवराय के राज्य मे (लगभग सन् १५०७ से १५३० ई० तक) भागवतम्-पद्धति का विशेष उत्कर्ष हुआ और कृष्णा नदी के तट पर कुचिपुडि नामक अग्रहारम् मे कुछ भक्त ब्राह्मणो ने इस शैली का विकास किया। कृष्णदेवराय के राजदरबार की रगशाला पर भी भागवतलु सन्तो का प्रभाव पडा होगा। उनके दरबार मे 'थयीकोण्ड' नाटक के अभिनय का विवरण मिलता है, जिनमे नगय्या नामक नट ने अपनी कला दिखाई थी। श्रीनटराज रामकृष्ण ने कृष्णदेवराय की पुत्री द्वारा रचित 'मारीचि-परिणय' नामक यक्षगान का उल्लेख किया है। निस्सन्देह, रगशाला को धार्मिक रूप दिये जाने मे आन्ध्र-कर्णाटक के सन्तो का ही प्रमुख हाथ था और ऐसा करने मे उन्हे सुविधाएँ और प्रोत्साहन विजयनगर-नरेशो से मिले।

इस शैली के उत्कर्ष की दूसरी परिस्थिति यह थी कि भागवत धर्म और जयदेव के 'गीतगोविन्द' के प्रचार के साथ-साथ देश के विभिन्न भागो मे कतिपय सन्तो के मन मे भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि और लीलास्थली ब्रजमण्डल—को देखने और उसमे बसने की लालसा जाग्रत् हो गई। क्यो सन् १५०० ई० के आसपास ही ब्रजमण्डल की यात्रा का यह अभियान देश के विभिन्न भागो के सन्तो ने शुरू किया, यह इतिहास का एक रहस्य है। यद्यपि इससे ६०० या ७०० वर्ष पूर्व यानी ८वी ९वी शताब्दी मे निम्बार्काचार्य ने ब्रज आकर वहाँ भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात किया था, तथापि उसके बाद इतने लम्बे अरसे तक बाहर से आनेवाले सन्तो की परम्परा बन्द हो गई थी हमारे विषय के लिए सन् १५०० ई० के आसपास की यात्राएँ ही विचारणीय है। इन सन्तों की धार्मिक यात्राओ की तिथियाँ धार्मिक प्रेरणाओं और नाट्य-प्रवृत्तियो के इतिहास मे विशेष महत्त्व रखती है। सबसे पहले सन् १४८१ ई० मे असम के महापुरुष शकरदेव अपनी १२ वर्ष की तीर्थयात्रा पर अपने १७ साथियो के साथ निकले और मथुरा एव

व्रजमण्डल मे शायद सन् १४६० ई० के आसपास उन्होने प्रवास किया। (इसके साठ वर्ष बाद सन् १५५० ई० मे शकरदेव ने पुन: यात्रा सम्पन्न की और इस बार १२० भक्तो की विशाल टोली के साथ)। शकरदेव द्वारा स्थापित वैष्णव-सम्प्रदाय 'एकसरनिया' मत के नाम से विख्यात है। शकरदेव की यात्रा के बाद निम्नलिखित सन्तो का व्रज मे आगमन-काल, प्रवास, मत-स्थापन इत्यादि विचारणीय है :

उत्कल और वग से श्रीमाधवेन्द्रपुरी (महाप्रभु चैतन्य के गुरु के पुत्र) १५वी शताब्दी के अन्तिम काल मे (माधव-सम्प्रदाय)।

आन्ध्र से श्रीवल्लभाचार्य। सन् १४६३ ई० के आसपास (पुष्टिमार्ग)।

गौड से महाप्रभु चैतन्य देव। सन् १५२० ई० के आसपास। (महाप्रभु ने बाद मे लगभग २५ वर्षो मे अपने ६ प्रमुख शिष्यो को व्रज के उद्धार के लिए भेजा, जिनमे रूपगोस्वामी का नाम इस सन्दर्भ मे विशेष उल्लेखनीय है।)

महाप्रभु हितहरिवश (वृन्दावन मे) सन् १५३३ ई० (राधावल्लभ सम्प्रदाय)

ओरछा से श्री हरीराम व्यास · सन् १५३४ ई० के लगभग।

गुजरात के स्वामी हरिदास . सन् १५४३ के आसपास।

आन्ध्र से श्रीनारायण भट्ट · सन् १५४५ ई० के लगभग।

यो दक्षिण, पूर्व और पश्चिम से सन्तवृन्द इन पचास वर्षों मे ब्रजमण्डल में पधारे और वहाँ भगवान् के स्तवन और लीलागान का अद्भुत वातावरण बन गया। ये सन्त अपने-अपने क्षेत्रो से सगीत, नृत्य और नाट्य की परम्पराओ को ब्रज मे लाये और वहाँ के वातावरण मे या वहाँ से प्रेरणा पाकर इन पद्धतियो को प्रयोग मे लाने का अवसर उन्हे मिला। इस प्रेरणा का प्रमुख रूप, ब्रजस्थली की भाषा और ब्रजमण्डल का रास-नृत्य (या मण्डलाकार नर्त्तन, जिसका मूल था हल्लीशक नृत्य) था। ब्रजमण्डल की भाषा भगवान् कृष्ण की लीलास्थली की भाषा होने का कारण तत्कालीन भागवत और वैष्णव नाटको के लिए विशेष श्रद्धा का पात्र बनी और विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं मे ब्रज की शब्दावली ग्रहण की गई।

ब्रज की मूलगन्ध को बाहर से आये सन्तो ने वाणी और रूप दिये। अपने अपने क्षेत्रों के परम्परागत अलकरणो से उन्होने अपनी प्रेरणा की दिव्यमूर्त्ति को विभूषित किया। तेलग देश से आये वल्लभाचार्य ने मथुरा मे एक रास का आयोजन किया माथुर चतुर्वेदी बालको के स्वरूप बना कर। किन्तु, वह, मण्डलाकार नृत्य का प्रयोजन था, नाट्य और अभिनय नही। वैष्णव सन्तो की परम्परा मे भगवान् की लीला पर केन्द्रित सर्वप्रथम भाषा-नाट्य असम में, महापुरुष शकरदेव ने सन् १५१८ ई० मे लिखा, यानी अपनी ब्रजयात्रा से लौटने के २२ वर्ष पश्चात्। इसका नाम था **कालियदमन-यात्रा** (असम मे ऐसा भी विश्वास है कि **कालियदमन-यात्रा** के पूर्व शकरदेव ने **चिह्नयात्रा** नामक रगप्रदर्शन का भी आयोजन किया था, किन्तु उसकी विषयवस्तु इत्यादि सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध

नही हैं)। **कालियदमनयात्रा** मे सन्तो द्वारा प्रेरित भाषा-नाट्यधारा की विशेषताओ की प्रारम्भिक झाँकी मिलती है। सूत्रधार द्वारा कृष्ण के नृत्य का वर्णन देखिए

ध्रुव : काला कानु नाचे चरन चलाइ।
करतु कौतुक नृत्य केशव, अरुण चरण चलाय रे।
देवमुनि सिरे सिरिख बरिखे हरिखे हरिगुन गाय रे।

पद : काल कालिक माथे चढ़ि भाँड़ पीड़ि कीड़ि कानु नाचे रे।
मृदंग दिमि दिमि नाथ दुदुभि सिद्ध सव बाय काचे रे।

"ऐसन जगतक परमगुरु नारायण श्री गोपालक भार सहि न पारि, कालि अचेत भेल। परम पीडात घाड ओलमल, नाके मुखे रुधिर छान्दे, महादुखे अन्धकार देखे, जत मद गर्व-दम्भ सर्पक सब चूर भेल। वाक्य मुखे हरल। ऐसन परम गुरुक आपद औषध पाइ, कालिक मन निर्मल भेल। नयनर नीर निझुरय, कृष्णक परम ईश्वर पुरुष मने सरन लेलइ।"

बाद मे जब कृष्ण कालिय-दमन करके बाहर आकर माता-पिता से मिलते है, उस समय का सवाद इस प्रकार है -

"**सूत्रधार**—ऐसन परकारे, कालिक दमिए, ह्रदहन्ते दूर करिकहु, श्रीकृष्ण कौतुके कालिन्दि तीरे आवल। देखि आनन्दे गोपिसब जय कृष्ण बुलि बेढल। मुख पकजक जैसे नयन भ्रमरे पान करैछे। नन्दजषोदा बाहुमेलि, गले बाँधि धरल। घने घने सिर सुघि लोतके सरीर तियावल। गद्गद वाक्य बोलत।

यशोदा—आहे पुता, कि निमिते, ह्रदक माझे झाम्प देलह। अ हामाक मारिते चाअल? तोहारि सन्तापे आजु प्रान छाडल होइ।

सूत्र—ओहि बूलि, मृतकपुत्रक पाइ, परमानन्दे नन्द जषोदा रहल तदनन्तर कृष्णक प्रभाव जानि, हासि हासि आसि बलभद्रे आलिगि धरल। ऐसन परकारे कृष्णक आबरि कौतुके हासिते मातिते, दिवस अवसान भेल। राति मिलल। ताहे पेखि श्रीकृष्ण बोलल।

श्रीकृष्ण—हे माता, हे पिता, हे गोपगोपिसब, आज रात्रि ब्रज जाइते पारए नाहि। जब सबेहि भल्ल देखह, तबे स्थाते रजनी बचह।।"

महापुरुष शकरदेव ने छह नाटक लिखे—**कालियदमनयात्रा, पत्नीप्रसाद, केलिगोपाल, रुक्मिणीहरण, पारिजातहरण** और **रामविजय**। उन्होने उमापति उपाध्याय, ज्योतिरीश्वर ठाकुर और विद्यापति द्वारा प्रवर्त्तित भाषा-सगीतको पर ब्रजमण्डल के भावभीनी, भक्ति-मूलक और नीतिपरक वातावरण को आरोपित किया। सगीतक मे गद्य-सवादो को भी भाषा ही मे निबद्ध किया, सस्कृत-प्राकृत मे नही। जिस भाषा का व्यवहार नाट्य मे

किया गया वह शुद्ध असमिया क्षेत्र की नही थी, वरन् एक सार्वदेशिक भाषा थी, जिसमे मिथिला, काशी और ब्रज की तत्कालीन भाषाओ का मिश्रण था। असमिया के सुविख्यात विद्वान् स्वर्गीय विरंचिकुमार बरुआ ने अपनी पुस्तक **शंकरदेव 'द सेण्ट आव आसाम** मे इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि शकरदेव ने क्यो इस प्रकार की मिश्रित भाषा का नाटको ही मे व्यवहार किया, जबकि उनकी अन्य रचनाएँ असम की स्थानीय भाषा मे थी। किन्तु, हमारे विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्हे भाषा-नाट्य की परम्परा मिथिला-नेपाल से और भक्तिमूलक नाट्य की प्रेरणा ब्रज से उपलब्ध हुई और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी मिश्रित भाषा ही उस समय के वैष्णव-नाट्य का माध्यम बनी।

शकरदेव प्रयोक्ता थे, अभिनय, नृत्य और सगीत के पण्डित थे, स्वय अपने नाटको को प्रस्तुत करते थे। उन्होने रगशाला को भी नया मोड दिया। सूत्रधार को शकरदेव ने प्रस्तावना की सीमित परिधि से बाहर निकालकर आद्योपान्त नाटक के निर्वाहकर्त्ता तथा प्रेक्षको के सम्बोधक का रूप दिया। इस तरह सूत्रधार के मुख से वे भक्ति और नीति के सन्देश को प्रस्तुत कर सके। शकरदेव द्वारा प्रवर्त्तित यह सर्वथा नवीन शैली 'अकिया नाट' के नाम मे विख्यात थी। यद्यपि उनके सभी नाटक एक अभूतपूर्व प्रयोग थे, तथापि **कालियदमनयात्रा** का प्रभाव बगाल पर इतना गहरा पडा कि कई सौ वर्ष तक बगाल मे जात्रा नाटक को 'कालियदमन-यात्रा' नाम से पुकारा जाता रहा। (इस बात का उल्लेख डॉ० दशरथ ओझा ने 'बगदर्शन', 'फाल्गुन', सख्या १२८९ के आधार पर अपनी पुस्तक **हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास** मे किया है।)

शकरदेव (सन् १४४९ से १५६८ ई० तक) के बाद उनके एकसरनिया वैष्णव-सम्प्रदाय के कुछ प्रतिभावान् सन्तो ने अनेक अकिया नाटो की रचना की, जिनमें उनके शिष्य माधवदेव (सन् १४८९ से १५९६ ई०), गोपाल आता (लगभग सन् १५३३ से सन् १६०८ ई०), रामचरण ठाकुर (सन् १५२१ से १६०० ई०) द्विजभूषण (सन् १५०७ से १५७७ ई०) और दैत्यारि ठाकुर (लगभग सन् १५६४ से १६३२ ई०) प्रमुख थे। इनमें माधवदेव का कृतित्व इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उन्होने ही सबसे पहले कृष्ण की बाल-लीलाओ को नाट्य का विषय बनाया। ब्रज की जिन रास-लीलाओ से हम आजदिन परिचित है, उनकी रचनाओ से पहले ही सन् १५३८ ई० मे माधवदेव ने **'अर्जुन भंजन-लीला'** को **भागवत, हरिवंश** और **विल्वमंगलस्तोत्र** के आधार पर लिखा। उसके बाद **चोरधरा, भूमिलुटिया, पिम्पिर गुछुवा,** और **भोजनविहार**—ये लघु नाट्य रचे, जिन्हें 'झुमुरा' कहा जाता है। मूल सस्कृत-श्लोको का विस्तार कर इन रचनाओ मे माधवदेव ने अद्भुत लालित्य की सृष्टि की। कृष्ण अन्य गोपियो के यहाँ दही की चोरी करते पकडे जाते है, तो यशोदा उनकी भर्त्सना करती है.

"**यशोदा**— हे पुता तोहारि बाप नन्द सब गुवालक राजा। हामु ताहेर पत्नी। हामार उदरे जनमि तुहु ऐसन दुर्जन भेलि! हामार गृहे दधि नाहि, दूध नाहि? लवनु नाहि? सन्देस नाहि? कौन वस्तु नाहि? तोहाक हामु खाइते नाहि देसि? तुहुकि भोजन नाहि करत? कांगाल छवाल

जैसन तुहु बेडान। आज तोहाक हामु सिखा देवब!"

भोजनविहार झुमुरा मे यशोदा कृष्ण को प्रात काल इन मधुर स्वरो मे जगाती है:

प्रातस समये, जसोदा जननि, मुख चुम्बित स्याम जगावन को।
उठ मेरे लाल, मदनगोपाल, आवे तेरे गोवाल बुलावन को।
अब रुटिया लेहु, माखन चच पूरी, मुरुलि लेहु स्याम बजावन को।
वृन्दावने जाहि, आनंद करि, यमुना तटे धेनु चरावन को।

आश्चर्य की बात यह है कि झुमुरा और बाल-लीलाओ की रचना माधवदेव के अतिरिक्त असम मे अन्य किसी अकिया नाटककार ने नही की। इस शैली की परिणति हुई ब्रजमडल मे ही। क्या शकरदेव की दूसरी यात्रा मे ब्रज मे ही उनके दल ने (जिसमे १२० व्यक्ति शामिल थे) शकरदेव और माधवदेव के अकिया नाटो और झुमुराओ का अभिनय किया? इसका कोई प्रमाण नही मिलता। मेरी धारणा है कि शकरदेव और माधवदेव ने ब्रज से जो पाया, उसके आभार-प्रदर्शन के लिए अपनी रगशाला की छवि वहाँ अवश्य दिखाई होगी। और यह भी सम्भव है कि इन झुमुराओ के प्रदर्शन का ब्रज की रासलीला पर कुछ प्रभाव पडा।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तत्कालीन ब्रजमण्डल देश के विभिन्न भागो से आनेवाले सन्तो की भक्ति-भावना, कल्पना और सात्त्विक उल्लास का केन्द्र हो गया था। इनमे से दो सन्तो ने 'रासलीला' और भाषा-सगीतको का ब्रजमण्डल मे सूत्रपात किया,—आन्ध्र (गोदावरी-तट) के ब्राह्मण नारायणभट्ट (जन्म सन् १५३१ ई०, ब्रज मे आगमन सन् १५४६ ई०) और गौड के रूपगोस्वामी (लगभग सन् १४७० से १५५४ ई० तक) अथवा उनके शिष्य जीव-गोस्वामिन् (सन् १५११ से १५९६ ई०)। यद्यपि रास-नृत्य का प्रदर्शन स्वय वल्लभाचार्य ने मथुरा मे किया था और बाद मे वृन्दावन मे हितहरिवश और करहला ग्राम मे घमण्डदेव ने, तथापि रासलीला यानी अभिनय, सवाद, नृत्य और भाषागीतो से सम्पन्न रग-पद्धति का ब्रज मे आयोजन पहले-पहल नारायणभट्ट ने ही किया। वे बरसाने के पास ऊँचाग्राम मे आकर बसे, श्रीकृष्ण की लीला-स्थलियो का उन्होने निर्धारण किया और उन लीला-स्थलियो मे ही उपयुक्त अनुकरण-लीलाओ का रग-प्रदर्शन करने का विचार किया। इसके लिए उन्होने करहला ग्राम के ही दो भाइयो खेमकरण और उदयकरण को अपना शिष्य बनाया और वही के एक नर्त्तक (जिसका नाम वल्लभ था और जो दिल्ली मे बादशाही नौकरी मे रह चुका था) से नृत्यायोजन मे सहायता ली। यही नही, उन्होने **ब्रजोत्सव-चन्द्रिका** नामक अपने ग्रन्थ मे लीलाओ की एक क्रमबद्ध उत्सव-माला के लिए सविस्तर निर्देश दिये। इसके अन्तर्गत निर्दिष्ट तिथियो पर विभिन्न स्थानो मे लीलाओ के आयोजन के लिए आदेश दिये गये थे। यह लीलोत्सवमाला (जिसका केन्द्र बरसाना ग्राम है) आजकल 'बूढी लीला' के नाम से विदित है और अब भी नारायणभट्ट के निर्देशानुसार ही विभिन्न स्थलो मे भाद्रपद मे सम्पन्न की जाती है। लीलाओ की कथाओ का नारायणभट्ट ने अपने **प्रेमांकुर** नामक सस्कृत-नाटक मे वर्णन किया, यथा जन्मलीला, दानलीला, मगरोकनी-लीला, पारस्परिक गालिदान-लीला, वनविहार-लीला, साँझी-लीला, पुष्पचयन-लीला,

निकुजरचना-लीला, निकुजभेद-लीला इत्यादि। (देखिए 'कुँवर चन्द्रप्रकाशसिह की **हिन्दी-नाट्य-साहित्य और रंगमंच की मीमांसा**। इन लीलाओ की विषयानुक्रमणिका गोस्वामी जानकीप्रसाद भट्ट-विरचित 'श्रीश्रीनारायणभट्टचरितामृतम्' मे दी गई है।)

तात्पर्य यह है कि नारायणभट्ट के **ब्रजोत्सवचन्द्रिका** और **प्रेमांकुर** ग्रन्थो मे ही वर्त्तमान रासलीला का आदिस्वरूप निर्धारित हुआ। जिस तरह शकरदेव द्वारा निर्दिष्ट अकिया नाट की परम्परा का पालन असम के सत्रो मे बराबर होता रहा, उसी भाँति नारायणभट्ट द्वारा प्रवर्त्तित लीलोत्सवमाला को करहला और बरसाना-क्षेत्र के रासधारी आजतक अपना पुण्य-कर्त्तव्य मानकर निबाहते रहे है। बाद मे रासलीलाओ का रूप तो विकसित हुआ ही, अवसर और स्थल की जो सीमाएँ नारायणभट्ट ने निर्धारित की थी, उनके अतिरिक्त मथुरा इत्यादि नगरो मे रासलीलाओ का प्रदर्शन होने लगा। मेरा अनुमान है कि इन परवर्त्ती रासलीलाओ की अपेक्षा नारायणभट्ट द्वारा प्रवर्त्तित बरसाना-क्षेत्र की रासलीलाओ की शृखला (जिन्हे इगलैण्ड की मध्ययुगीन 'मिस्टरी-मिरैकिल साइकल' के तुल्य माना जा सकता है) जब पुरानी हो चली, तब उसे 'बूढी लीला' के नाम से पुकारा जाने लगा। मुझे बरसाने की साँकरीखोर मे 'दधिभाण्डभंजन-लीला' को देखने का अवसर मिला था, जो 'बूढी लीला'-शृखला की एक कडी है। उसमे पर्व एव रग-प्रदर्शन का जो विलक्षण मिश्रण है, वह अन्यत्र मैने नही देखा। दो पहाडियो के बीच एक सँकरी घाटी है। एक पहाडी पर जो मण्डप बना है, उसमे श्रीकृष्ण सखाओ-सहित खडे होते है, दूसरी पर राधिका गोपियो-सहित। दोनो मे वार्त्तालाप होता है। राधिका और सखियाँ दही के मटके मस्तक पर रखकर घाटी मे उतरती है। श्रीकृष्ण और सखा डण्डे लेकर सामने आते है और दान माँगते है। झगड़ा होता है। डण्डे से दही की मटकी फोड़ी जाती हे। दही बिखर जाता है और दर्शक-समूह उसे प्रसाद-स्वरूप ग्रहण करने के लिए उमड पडते है। दर्शक पहाड़ियो के ढाल पर से इस लीला का प्रेक्षण करते है, उच्चस्वर मे गाये जानेवाले गीत-संवाद सुनते है। एक पुराने ब्रजवासी ने मेरे शहरी लिवास और तटस्थता को लक्ष्य करके कहा कि महोदय, इस लीला का रसास्वादन करना है, तो इस वातावरण मे रम जाओ। यहाँ दर्शकों और लीलाकारो मे अन्तर नही रहता। यहाँ तो सब एक ही रस मे निमग्न है।[१]

यदि नारायणभट्ट ने पर्व और नाट्य का गठबन्धन कर रासलीला के वर्त्तमान स्वरूप का सूत्रपात किया, तो चैतन्यमत के दूसरे सन्त रूपगोस्वामिन् (एव सम्भवत. उनके भी शिष्य जीवगोस्वामिन्) ने शास्त्रसम्मत नाट्य की परम्परा का वैष्णव-नाट्य मे उसी भाँति प्रयोग किया, जैसे महापुरुष शंकरदेव ने असम मे। **गोविन्दहुलास नाटक**, जिसे श्रीकुँवर चन्द्रप्रकाशसिह ने सम्पादित किया है, रूपगोस्वामी (लगभग सन् १४७० से १५५४ ई० तक) के सस्कृत-

१ नारायणभट्ट ने **ब्रजोत्सवचन्द्रिका** मे इस लीला का विधान इन शब्दो मे किया है—
"तत भाद्रशुक्लत्रयोदश्या प्रात समये साकरी खोरिमायातौ द्वौ पर्वतोपरिस्थिता लीला कथयन्तौ। ततस्तस्या साकरी खोर्यां राधागोपीभि सार्द्धं दधिभाजन मस्तकोपरि निधाय विष्णुनामपर्वतात्पूर्वभागतस्तवयाती। तत श्रीकृष्ण वेत्रहस्तेन स्थित्वा दान ययाचे। मध्याह्नपर्यन्त लीलाकृतास्तत्पश्चाद्दधिभाण्ड भङ्क्त्वा दधि भक्ष्ये।"

नाटक **विदग्धमाधव** का भाषा-रूपान्तर है (देखिए **हिन्दी-नाट्य-साहित्य और रंगमंच की मीमांसा**—कुँवर चन्द्रप्रकाशसिह)। रूपगोस्वामी ने सन् १५१७ ई० के आसपास महाप्रभु चैतन्य के आदेश पर इस सस्कृत-नाटक की रचना की और सन् १५३२ ई० के आसपास यह पूरा हुआ। (इसका दूसरा अश **ललितमाधव** के नाम से सन् १५३७ ई० मे पूरा हुआ।) **विदग्धमाधव** का भाषा-रूपान्तर **गोविन्दहुलास** नाटक, जो श्रीकुँवर चन्द्रप्रकाशसिह के सदुद्योग से हाल ही मे प्रकाश मे आया है या तो स्वय रूपगोस्वामी की रचना है या उनके शिष्य और भतीजे **जीवगोस्वामी** की, जिनका अधिकतर जीवन काशी और वृन्दावन ही मे बीता (समय लगभग सन् १५११ से १५९६ ई० तक)। **गोविन्दहुलास** रासलीलाओ की अपेक्षा अधिक 'साहित्यिक' **रचना है, एवं मिथिला-नेपाल में ज्योतिरीश्वर उमापति और विद्यापति** द्वारा विकसित धारा के अधिक निकट है, यद्यपि भाषा की दृष्टि से ब्रजक्षेत्र की टकसाली भाषा के निकट है

> **ताते माधव माधुरी चरित मधुर रस प्याइ।**
> **विरह अटपटों चटपटों लीजों जीउ जीवाइ॥**
> **यह अग्या मोको दई उमाकंत भगवंत।**
> **रिद्धि सिद्धि सब जगत गुरु पूरन करन समंत॥**

चाहे **गोविन्दहुलास नाटक** को स्वय रूपगोस्वामी ने लिखा, चाहे उनके शिष्य जीवगोस्वामी ने, इसकी प्रेरणा रूपगोस्वामी की ही थी और इस भाषा-सगीतक की महत्ता इसलिए विशेषत बढ जाती है कि रूपगोस्वामी ने **नाटकचन्द्रिका** नामक नाट्य-शास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा और **गोविन्दहुलास** पर उनके सिद्धान्तो की छाप स्पष्ट है। रूपगोस्वामी ने ही पहली बार दानलीला की कथा प्रवर्त्तित की और उसपर सस्कृत मे **दानकेलिकौमुदी** नामक भाणिका की रचना की। उन्होने ही कृष्ण के युवती-वेश धारण करने की तथा होली की लीलाओ का समावेश किया और जीवगोस्वामी ने भारलीला और नौकालीला का। (दे० ए हिस्टरी ऑव ब्रजबुलि डॉ० सुकुमार सेन)। तात्पर्य यह कि एक ओर तो रूपगोस्वामी ने **नाटकचन्द्रिका** तथा सम्भवत **गोविन्दहुलास नाटक** की रचना कर परम्पराशील नाट्य का साहित्यिक पक्ष पुष्ट किया और दूसरी ओर कृष्ण और राधा की कथा मे कुछ ऐसे रोचक प्रसगो का समावेश किया, जिन्हे ब्रज की रासलीला-रगशाला ने सोल्लास अपना लिया। यहाँ यह कहना अप्रासगिक न होगा कि रूपगोस्वामी के पूर्वज भी दक्षिण (कर्णाटक) से आये थे। (दे० ए हिस्टरी ऑव ब्रजबुलि : डॉ० सुकुमार सेन)

नारायणभट्ट द्वारा प्रवर्त्तित रासलीला का विकास अष्टछाप के कवियो द्वारा हुआ। अष्टछाप का साहित्य मुक्तक रूप में था। लेकिन इन, स्फुट पदो मे लीला-प्रदर्शन के लिए प्रचुर सामग्री थी। इसीलिए, सूरदास (सन् १५५० ई० के आसपास) के पद विभिन्न बाल-लीलाओ के आधार बने, कुम्भनदास के पदो ने विरह और दानलीला के लिए सामग्री दी, परमानन्ददास का आँखमचौनी-लीला पर प्रभाव पडा। नन्ददास की **रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत** के पदो ने महारासलीला और उद्धव-गोपी-संवाद को अलंकृत किया। ऐसा जान पडता है कि उस समय तक सांगोपाग लीलाएँ लिखने का रिवाज नही था। लीलापदो को रासधारी

शृखलाबद्ध करते थे और आशु-सवाद इन पदो को जोडनेवाली कडी होते थे। कौन पद लिये जायेगे और किस स्थान पर व्यवहृत होगे, इसका निर्णय रासधारियो के हाथ मे था।

सन् १५७० ई० के आसपास हरिराम व्यास ने पहले-पहल लीला-नाटक लिखने की पद्धति चलाई। मेरा अनुमान है कि उन्हे इसकी प्रेरणा रूपगोस्वामी के **भक्तिरसामृतसिन्धु** नामक ग्रन्थ से मिली, जिसमे राधा और कृष्ण के छद्मवेश धारण करने के प्रसग का सर्वप्रथम उल्लेख है। (दे० ए हिस्टरी ऑव ब्रजबुलि डॉ० सुकुमार सेन)। हरिराम व्यास के पदो के प्रारम्भ मे पात्रो के नाम नाटकीय पद्धति से दिये गये है और कुछ विद्वानो का विचार है कि **गोरे ग्वाललीला,** जिसका आधार ही छद्मवेश है, सबसे पहले हरिराम व्यास ने ही लिखी।

अकबर के राज्यकाल मे (सन् १५५६ से १६०५ ई०) रासलीला का उत्कर्ष तो हुआ ही, अयोध्या और काशी मे रामलीला के वर्त्तमान रूप का भी सूत्रपात हुआ, जिसके कर्णधार थे स्वय गोस्वामी तुलसीदास और उनके साथी काशी के प्रसिद्ध मेघा भगत। तुलसीदासने अयोध्या मे चैत्र मास मे और काशी मे आश्विन मास मे रामलीला की परिपाटी चलाई, किन्तु कुछ समय बाद अयोध्या की रामलीला की परम्परा समाप्त हो गई। रामलीला रगशाला मे लीलास्थलियो का वह रूप अधिक व्यापक और स्थायी हो गया, जिसे कृष्णलीला के लिए केवल नारायणभट्ट द्वारा प्रवर्त्तित 'बूढी लीला' मे ही कायम रखा जा सका। यद्यपि अनेक विद्वानो ने रामलीलाएँ विभिन्न नामो से लिखी (यथा प्राणचन्द का **रामायण महानाटक** और हृदयराम का **हनुमन्नाटक**), तथापि गोस्वामी तुलसीदास के **रामचरितमानस** के नाटकीय तत्त्व इतने महान् थे कि रामलीला का बहिरग और अन्तरग दोनो ही रामचरितमानस के विशाल मानस मे समा गये। रामलीला का प्रचार राजस्थान मे भी बाद मे हुआ।

इस तरह हम देखते है कि परम्पराशील नाट्य अथवा भाषा-सगीतको के द्वितीय उत्थान-चरण मे आन्ध्र-कर्णाटक के भागवतमेल से प्रारम्भ होकर सन्तनाट्यो की धारा उत्तर की ओर बढी। ब्रजमण्डल मे सन्तो के समागम के फलस्वरूप जो वातावरण उत्पन्न हुआ, उसकी सर्व-प्रथम अभिव्यक्ति असम मे हुई। उसके बाद ब्रजमण्डल मे रासनृत्य के प्रयोगो के उपरान्त अनुकरणात्मक लीलाओ का प्रादुर्भाव हुआ। रामलीलाओ का प्रचार भी हुआ। परम्पराशील नाट्य राजमहल के वातावरण से हटकर भक्ति-भावना का पोषक एव नीतिपरकता का समर्थक बन गया। रगशाला मे से नर्त्तकियो को बहिष्कृत किया गया, यद्यपि दक्षिण के मन्दिरो मे देवदासियो द्वारा देवस्तुति के नृत्यो की परम्परा जारी रही। नारी-पात्रो का अभिनय किशोरो और बालको द्वारा किया जाने लगा। सूत्रधार का दायरा बढा दिया गया। वह नाटक की पूरी अवधि मे रगशाला मे मौजूद रहने लगा और विभिन्न नामों से (यथा रासलीला मे समाजी नाम से) प्रेक्षको और रगमच के बीच सम्प्रेषण का माध्यम बन गया। ध्रुव और पद की जिस गान-पद्धति का रगशाला में प्रयोग जयदेव ने किया था, वह परम्पराशील नाट्य का मेरुदण्ड बन गई। उत्तर और दक्षिण की राग-रागिनियों को विविध तालो में निबद्ध करके आचार्य लोग नाटकों मे उनका प्रचुर उपयोग करने लगे। उत्तर भारत मे इसके फलस्वरूप सगीत की एक शैली ध्रुपद नाम से ब्रजमण्डल में ही लोकप्रिय हो गई। सन्तो ने जिस नाट्य-शैली का विकास किया, वह लक्षणग्रन्थो के दायरे के बाहर थी।

अत., कुछ सन्तो ने उसे स्थायित्व देने के लिए निर्देशन-ग्रन्थो की भी रचना की, जैसे नारायण-भट्ट के **ब्रजोत्सवचन्द्रिका** और **प्रेमांकुर** तथा रूपगोस्वामी के **नाटकचन्द्रिका** और **भक्तिरसामृत-सिन्धु**। भाषा-नाट्य-साहित्य की यह प्रवृत्ति उत्थान के प्रथम चरण के **वांग्येय व्याख्या** और **वर्णन-रत्नाकर** जैसी रचनाओ के अनुसरण मे थी।

तृतीय चरण : सन् १६५० से १८०० ई० :

उत्थान के तृतीय चरण (लगभग सन् १६५० से १८००·ई० तक) मे भाषा-सगीतको का क्षेत्रीय रूप विकसित हुआ। ज्यो-ज्यो मुगल-साम्राज्य के ओर-छोरो मे हिन्दू-राज्य स्थापित होते गये, त्यो-त्यो उन राज्यो के केन्द्र-स्थानो मे भाषा-सगीतको को वही के वातावरण के अनुकूल विशेषताओ को गहरा करने का अवसर मिला। सुदूर दक्षिण मे तजोर और मैसूर के राज्य, पश्चिम मे मराठा-राज्य, राजस्थान और बुन्देलखण्ड मे छोटी-छोटी रियासते इन आचलिक और परम्पराशील नाट्य-शैलियो के केन्द्र बन गये। कुछ मुस्लिम-राज्य भी जो मुगल-सल्तनत के दायरे के बाहर थे, भाषा-नाट्य को प्रोत्साहन देने लगे, यथा गुजरात, मालवा और कश्मीर। यो क्षेत्रीय रगतो के अतिरिक्त इस युग के भाषा-रगमच मे मुसलमानी वेशभूषा तथा राजदरबार की तहजीब, परिहास इत्यादि का समावेश भी होने लगा, जिनका प्रभाव आजकल भी इन शैलियो पर दीख पडता है। इस युग की तीसरी विशेषता थी ध्रुव और पद की शास्त्रीय गान-शैली के साथ-साथ लोक-धुनो का भाषा-सगीतको मे प्रवेश, जिनके कारण न केवल इनकी गतिशीलता बढ गई, वरन् जनसाधारण से लगाव भी। चौथी विशेषता थी इस युग के परम्पराशील नाट्य की विषयवस्तु मे वीरगाथाओ एव प्रेमकथाओ का आरोपण, जिनमे से कुछ तो ऐतिहासिक व्यक्तियो के विषय मे थी और अधिकतर लोकमानस की उपज थी।

दक्षिण मे विजयनगर-साम्राज्य के ध्वस (सन् १५६५ ई०) के बाद जो छोटे राज्य स्थापित हुए, उनमे तजोर के नायक-वश ने परम्पराशील रगमच को विशेष बढावा दिया, और यक्षगान और वीथिनाटकम् उनके सरक्षण मे ही एक ऐसे प्रदर्शन के रूप मे पल्लवित हुए, जो उच्च और साधारण दोनो ही वर्गों के लिए प्रिय और रोचक बन सका (दे० द फोक थिएटर ऑव आन्ध्रप्रदेश : श्री एस्० वी० जोगाराव का अँगरेजी-लेख, 'नाट्य', वर्ष ६, सख्या ४, १९६२ ई०)। १६वी शताब्दी के अन्त मे अच्युतप्पा नायक नामक तजोर-नरेश ने तमिलनाड के मेलात्तूर नामक गाँव मे ५०१ भागवतुलु ब्राह्मण-परिवारो को आन्ध्र के कुचिपुडि-क्षेत्र से ला बसाया और उन्हे भागवत-पद्धति के भाषा-सगीतक प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। मेलात्तूर ग्राम के ये नाटक ही बाद मे वीथिनाटकम् अथवा तेरुकूथु एव भागवतमेल के नाम से विख्यात हुए। साथ ही, नायक-वश ने पौराणिक नाटक ही नही, जीवनवृत्त-नाटको एवं अन्य विधाओ का विकास किया। नायक-वंश के विजयराघव नायक (सन् १६३३ से १६७३ ई० तक) नामक नरेश ने अपने पिता रघुनाथ नायक की दिनचर्या को आधार मानकर **रघुनाथअभ्युदयम्** नामक नाटक लिखा।

उनकी रानी रगजम्मा ने स्वय अपने पति को लक्ष्य कर **मन्नारदासविलासम्** नामक नाटक लिखा, जिसके रगमच पर प्रदर्शन मे आंगिक अभिनय पर विशेष ध्यान दिया गया। रग-जम्मा के नाटक मे पॉच भाषाओ का प्रयोग हुआ है, नाना प्रकार के पात्रो का समावेश हे और नृत्य एव नृत्त के अतिरिक्त रसाभिनय पर विशेष जोर दिया गया है। विजयराघव नायक के दरबार मे ही क्षेत्रय्या नामक प्रतिभाशाली कवि और नाट्याचार्य ने कथावस्तु मे पदो को शामिल करके सात्त्विक अभिनय के लिए गुजाइश कर दी। उन्होने ४००० के लगभग पदो की रचना की। उनसे पूर्व नृत्त के प्रकार तो थे, किन्तु 'पदम' की पद्धति नही थी (दे० **कुचिपुडि भागवतम्** पर सगीत-नाटक-अकादमी के सन् १९५६ ई० के सेमिनार के लिए अँगरेजी-लेख) पुरुषोत्तम दीक्षित ने **तंजपुरन्नदाना महानाटक** मे विज्यराघव के दरबार के एक ब्राह्मण के एक नर्त्तकी के प्रति हास्यास्पद अनुराग का खाका खीचा। विजयराघव के दरबार के नाटको की एक विशेषता यह भी थी कि यद्यपि वे तेलुगु-भाषा मे यक्षगान की शैली मे निवद्ध थे, तथापि उनमे से कुछ मे स्थानीय तमिल-क्षेत्र की लोकप्रिय विधा 'कुरुवजी' के पात्रो का समावेश किया गया (दे० द फोक थिएटर ऑव आन्ध्रप्रदेश लेखक एस्० वी० जोगाराव · 'नाट्य', वर्ष ६, सख्या ४, १९६२ ई०)। निस्सन्देह, विजयराघव नायक का भाषा-सगीतकों के इतिहास मे उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जितना कुल-शेखरवर्मन् और हरसिहदेव का।

इधर आन्ध्र-क्षेत्र मे गोलकुण्डा के नवाब अबुल हसन तनाशा (सन् १६७२ से १६८५ ई०) ने कुचिपुडि ग्राम के सन्त सिद्धेन्द्र योगी को अपने अग्रहारम् में ही भागवत-नाटको के अभिनय की उन्नति के लिए एक सनद प्रदान की। नवाब के दो मन्त्री अक्कन्ना और मदन्ना अपनी एक नाटक-मण्डली भी रखे हुए थे। योगी सिद्धेन्द्र ने ही कुचिपुडि मे सत्यभामा के वृत्त को लेकर 'भामाकलापम्' और एक ग्वालिन के वृत्त के आधार पर 'गोल्लकलापम्' नामक कथाओ को सगीतकों मे प्रस्तुत किया। इन 'कलापो' मे एक ओर शृगार और अध्यात्म का चरमोत्कर्ष है, दूसरी ओर लोक-प्रचलित विदूषक पात्र-पात्रियों का भी प्रवेश हे, यथा 'भामाकलापम्' मे माधवी और 'गोल्लकलापम्' में सुकरी कोण्डय्या।

सारे दक्षिण मे उन दिनो मिश्रित शैलियो मे नाटकीय प्रयोग राजा-महाराजाओ की दिलचस्पी के कारण हो रहे थे। मैसूर-नरेश कण्ठीरव नरसराज (सन् १७०४ से १७१३ ई०) ने चार भाषाओ (तेलुगु, कन्नड, तमिल और प्राकृत) मे एक कुरुवजी की रचना की। शिवाजी की मृत्यु के बाद तंजोर मे शाहजी (सन् १६८४ से १७१२ ई०) और उनके बाद अनेक मराठा राजाओ ने (जिनमे सर्फोजी द्वितीय, सन् १७९८ से १८३२ ई०, का नाम विशेष उल्लेखनीय है) तेलुगु, तमिल, मराठी, कन्नड़, हिन्दी—इन सभी भाषाओ में संगीतकों की रचना करवाई। तजोर मे पाण्डुलिपियो के सरस्वतीमहल-सग्रहालय मे मुझे दो ऐसे सगीतको की पाण्डुलिपियाँ देखने को मिलीं, जिनकी भाषा ब्रज है, लिपि तेलुगु और संगीत कर्णाटकी। इनमें से एक **वंशीधरविलासनाटकम्** की विषयवस्तु रूपगोस्वामी के **विदग्धमाधव नाटक** (और **गोविन्दहुलास नाटक**) से मिलती-जुलती है। सर्फोजी ने तंजोर में एक ऐसी नाट्यशाला बनवाई, जिसका ध्वनि-विधान (एकूस्टिक) आधुनिक इजीनियरो के लिए भी चुनौती है।

आन्ध्र का कुचिपुडि : पूर्णरग
गरोश-वन्दना
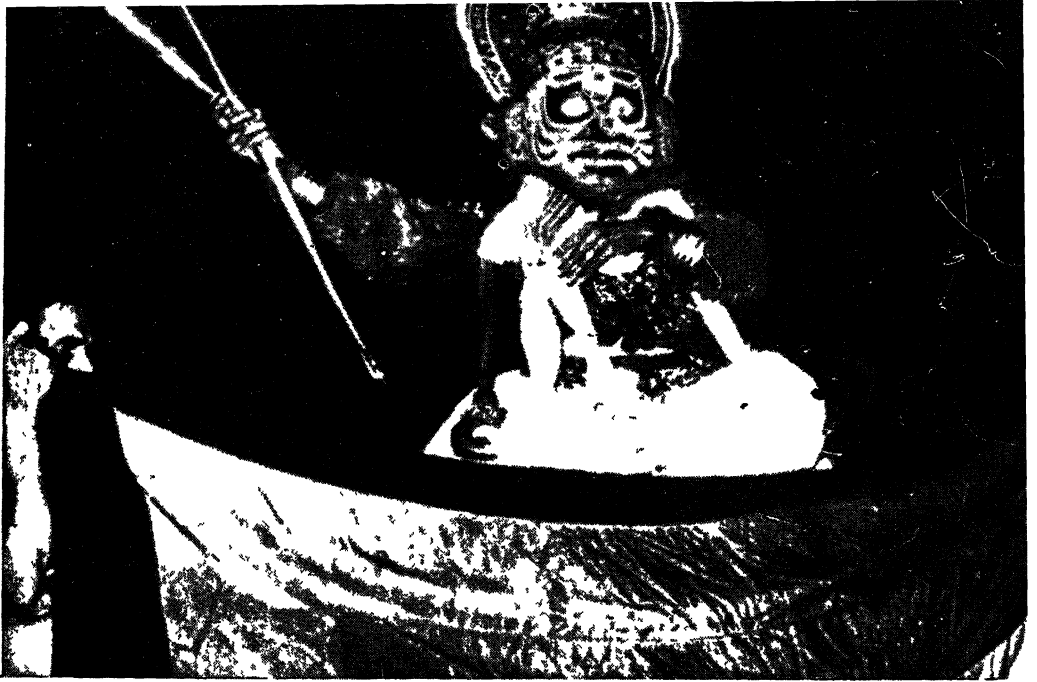
ऊपर : केरल का प्राचीन वैष्णव नाट्य-कृष्णाट्टम्

नीचे : तेरुकुथु—तामिलनाडु का पौराणिक नाट्य

वस्तुत, मराठा राजा और सरदार उत्तर और दक्षिण की आचलिक नाट्य-विधाओ को एक-दूसरे के निकट लाने के साधन बने, क्योकि १८वी सदी मे मराठा-राज्य दिल्ली से तजोर तक, बडौदा से उडीसा तक फैलता रहा था। महाराष्ट्र मे 'तमाशा' रगमच का विकास उत्तर और दक्षिण के इसी मेल का परिणाम था। कर्णाटक की 'दौडाट्टा' और 'सन्नाटा' पद्धतियाँ भी इसी युग मे विकासशील हुई और सन्नाटा के सगीत मे हिन्दुस्तानी मगीत की राग-रागिनियो (भैरवी मुलतानी) का समावेश (दे० द कर्णाटक थिएटर, डॉ० एच्० के० रगनाथ) मराठा-शासको के कारण ही हुआ।

लेकिन, मराठो के प्रभाव के बावजूद परम्पराशील नाट्य के इस युग मे मुख्यत आचलिक विशेषताओ का निखार हुआ। मैसूर के चिक्कदेवराज के दरबारी कवि नरसिहार्य ने सन् १६८० ई० मे आधुनिक कन्नड के प्रथम नाटक **मित्रवृन्द गोविन्द** की रचना की। सन् १६९० ई० मे आधुनिक मराठी का प्रथम नाटक **श्रीलक्ष्मीनारायणकल्याणम्** लिखा गया। केरल मे कालीकट और कोचीन के नरेशो की आपसी स्पर्द्धा के फलस्वरूप 'कथकली' और 'कृष्णाट्टम्' का विकास हुआ। यद्यपि ये दोनो पद्धतियाँ नाट्य के वर्ग मे न आकर नृत्य की अभिनयात्मक अभिव्यक्ति मानी जायेगी, तथापि कुलशेखरवर्मन् द्वारा प्रवर्त्तित कूटियाट्टम् नाट्य का जो रूपान्तर १७वी-१८वी शताब्दियो मे हुआ, कथकली और कृष्णाट्टम् उसका ही परिणाम थी। मलाबार के तट पर पुर्त्तगाल से आये हुए ईसाइयो ने भी इसी युग मे 'चविट्टु नाटकम्' नामक शैली मे ईसाई-मत की वीरगाथाओ को प्रस्तुत किया।

उत्तर मे राजस्थान की रियासतो को १८वी सदी मे मुगल-सम्राज्य के ह्रास के कारण सास्कृतिक उत्कर्ष के लिए फुरसत मिली। चित्तौर और घोसुण्डा मे 'तुर्रांकिलिगी' नामक पद्यसवाद-शैली उत्पन्न हुई और बाद मे राजस्थानी 'मॉच'-शैली का नाट्य तुर्राकिलिगी के प्रभाव से ही चित्तौर मे विकसित हुआ। १८वी सदी के प्रारम्भ मे ही राजस्थानी 'ख्याल' का उदय हुआ (दे० श्रीदेवीलाल सामर का लेख 'द ट्रेडिशनल थिएटर ऑव राजस्थान', 'नाट्य' १९६२, सगीत-नाटक-अकादेमी) और मेरा अनुमान है कि जिस किशनगढ-रियासत मे १८वी सदी मे चित्रकला की अभूतपूर्व अभिव्यक्ति हुई, वही के नरेशो ने ख्याल-मण्डलियो को विशेष प्रोत्साहन दिया। 'ख्याल' की दो शैलियॉ प्रधान मानी जाती है—कूचामन की शैली और शेखावट की शैली। बीकानेर और जैसलमेर मे 'रम्मत'-पद्धति के ख्यालों मे अभिनय और नाटकीय परिस्थितियो पर विशेष ध्यान दिया गया।

राजस्थान के ख्यालो मे वीरगाथाओ और प्रेमकथाओ की प्रधानता और उनके सगीत मे राजस्थानी लोकगीतो की धुनो और तालो का समावेश—ये दो विशेषताएँ उन्हे भक्ति-प्रधान-नाट्य शैलियो से पृथक् सत्ता प्रदान करती है। यही बात मालवा के माँच और पजाब एव हरियाना के स्वॉग और सागीत पर लागू होती है, जिनका विकास इसी युग मे हुआ। हरियाना और पजाब के प्रारम्भिक स्वॉगो पर अनेक प्राचीन वीरगाथाओ का प्रभाव दीख पडता है। कैप्टन टेम्पिल ने गुरु गुग्गा, सीला दाई, राजा गोपीचन्द और राजा नल स्वॉगो का विवरण दिया है। (दे० द लेजेण्ड ऑव द पजाब : कैप्टन टेम्पिल, बम्बई, १८८४ ई०)

लेकिन, वीरगाथाओ मे सबसे अधिक प्रसिद्ध गाथा थी राजा रसालू की। स्वॉगो का प्रदर्शन ब्राह्मण नटो द्वारा किया जाता था और उनमे पौराणिक प्रसगो एव स्थानीय शौर्य-कथाओ का सम्मिश्रण होता था।

काश्मीर की घाटी मे भी इसी युग मे या इससे कुछ पूर्व परम्पराशील नाट्य का विकास कुछ दूसरी परिस्थिति मे हुआ। यो तो १४वी शताब्दी ही मे उदारहृदय और रसमर्मज्ञ मुसलमान राजा जैनुल आब्दीन ने अपने दरबार मे सगीतज्ञो और नटो को विशेष प्रोत्साहन दिया, किन्तु काश्मीर की विशेष नाट्य-विधा 'भॉड पथ्र' का विकास परवर्त्ती राजाओ अलीशाह और हसनशाह की राज्यावधि के बाद हुआ जान पडता है। अलीशाह और हसन शाह ने कर्नाटक से कुछ गायको को अपने दरबार मे बुलाया और इसके फलस्वरूप अनेक कर्नाटक राग-रागिनियाँ काश्मीर की 'मुकाम'-पद्धति मे सम्मिलित कर दी गईं। परम्पराशील नाट्य के ऐतिहासिक विवेचन मे बार-बार दक्षिण द्वारा उत्तर को प्रदत्त इस प्रकार के सास्कृतिक नेतृत्व के सबूत मिलते है। इसके कुछ समय बाद सदफ भॉड नामक कलाकार बाहर से काश्मीर आया और उसने ही 'भाड-जश्न' नामक नाट्य-शैली को जारी किया (दे० 'भॉड पथ्र' पर श्री के० के० आरू का अँगरेजी-लेख, 'नाट्य', सगीत-नाटक-अकादेमी, १९६२ ई०)।

यद्यपि असम मे महापुरुष शकरदेव द्वारा स्थापित सत्रो मे अकिया नाटो की परम्परा अपने मूल रूप मे ही बराबर चलती रही, तथापि **कालियदमनयात्रा एव पारिजातहरण** नाटक का प्रभाव बंगाल और पूर्वी बिहार पर अत्यन्त व्यापक रूप से पडा। १८वी शताब्दी के अन्त तक बंगाल मे 'जात्रा' परम्पराशील नाट्य की प्रमुख विधा के रूप मे स्वीकृत हो गई और उसमे पौराणिक धर्मप्रधान कथानको के अतिरिक्त, लोकप्रचलित प्रेमकथाओ का भी समावेश होने लगा। मिथिला में विद्यापति के सरक्षक ओइनवारवंशीय राजाओं के उपरान्त दरभगा के महेश ठाकुर ने राजवश के कीर्त्तनियाँ नाटकों की परम्परा जारी रखी। यद्यपि कथावस्तु पर पौराणिक वातावरण का प्रभाव था, तथापि मिथिला का कीर्त्तनियाँ रगमंच १७वी-१८वी शताब्दियों में सस्कृत-नाट्यपद्धति की ओर अधिक उन्मुख रहा।

ब्रज की रासलीला इस युग मे लोक-सस्कृति के अधिक निकट आई। इसका प्रधान श्रेय चन्दसखी नामक कवि को है, जिनका जन्म सन् १६४३ ई० के आसपास माना जाता है। इन्होने अपनी **चन्द्रावली-लीला** मे श्रीकृष्ण की चन्द्रावली नामक गूजरी को छलने के लिए की गई छद्मलीला का कथानक लिया। लोकजीवन से उन्होने पात्र और कथानक ही नही लिये, वरन् लोकधुनो को भी लीला-संगीत में शामिल किया। यह एक साहसपूर्ण प्रयोग था, जिसने परवर्त्ती लीला-साहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला, यद्यपि यह भी मानना होगा कि लोकधुनों के प्रवेश के फलस्वरूप रासलीला का स्वरूप उतना अक्षुण्ण न रह सका, जितना असम के अंकिया नाट का रहा है। चन्दसखी के बाद रासलीला के उत्थान के इस युग मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम चाचा हितवृन्दावनदास का है, जिन्होने सम्प्रदाय से निकट सम्पर्क रखते हुए भी रासलीला को पूर्णत· ब्रज के जनजीवन का दर्पण बना दिया। उन्होने लगभग २७ छद्मलीलाओं की रचना की, और इसके अतिरिक्त साधारण ब्रज-परिवारों मे

होनेवाली रीतियो एवं उत्सवो को भी लीला-साहित्य का आधार बनाया। **गौनेवारीलीला, दुलरीलीला, बनजारौलीला** इत्यादि ने रासलीला की परम्परा ही बदल दी, उसमे एक तरह की स्फूर्त्ति, लचक और आत्मीयता का समावेश हो गया, जो रासलीला के मात्र धर्मप्रधान और साम्प्रदायिक स्वरूप मे सम्भव न थी। चाचा हितवृन्दावनदास ने कथोपकथन और गद्याश को रासलीला में महत्त्वपूर्ण स्थान देकर उसके नाटकीय तत्त्व की अभिवृद्धि की। वर्त्तमान रासलीला का रूप वस्तुत चाचा हितवृन्दावनदास द्वारा ही स्थिर किया गया था।

वर्त्तमान युग में परम्पराशील नाट्य (सन् १८००ई० के बाद) :

उन्नीसवी सदी मे आचलिक नाट्य और रगमच मे कोई आमूल परिवर्त्तन नही हुआ। यह कहा जा सकता है कि आजकल जो परम्पराशील नाट्य-शैलियाँ पाई जाती है, उनकी रूपरेखा अट्ठारहवी सदी और उससे पहले ही निर्धारित हो गई थी। किन्तु, उन्नीसवी सदी मे एक लम्बे अरसे के लिए देश मे शान्ति होने के कारण इन कलाकारो को प्रदर्शन के लिए अनेक अवसर मिलते रहे। छोटे-मोटे राज्यो मे उनके सरक्षण और निर्वाह का आयोजन भी हो गया। जमीन्दारी-प्रथा के फलस्वरूप बगाल एव अन्य पूर्वी सूबो मे एक ऐसा अभिजात-वर्ग पैदा हो गया, जो नृत्य-सगीत-कलाओ मे दिलचस्पी ले सकता था। किन्तु, साथ-साथ पाश्चात्य सस्कृति के प्रभाव से उन्नीसवी सदी के मध्य मे क्षेत्रीय भाषाओ मे नई नाट्यशैली के प्रयोग सामने आने लगे। उससे पूर्व बगाल मे जात्रा-रगमच मे प्रदर्शन के कुछ पाश्चात्य तरीके अपनाये जाने लगे। लखनऊ मे इन्दरसभा का प्रयोग साँग और रासलीला पर पाश्चात्य ओपेरा-शैली के आरोपण द्वारा किया गया। बम्बई और कलकत्ता मे पारसी थियेटर का सूत्रपात हुआ। किन्तु, इन सभी प्रयोगो की जडे परम्परागत नाट्य-शैली से अलग हटी हुई नही थी। आज जो पार्थक्य हम आधुनिक नागरिक रगमच और परम्पराशील आचलिक रंगमच के बीच देखते है, वह तबतक उत्पन्न नही हुआ था।

उन्नीसवी सदी मे और बीसवी सदी के प्रारम्भिक दो दशको मे परम्पराशील रगमच समर्थ और व्यापक रहा और उसमे नई-नई रचनाएँ भी होती रही। साँग, नौटकी, जात्रा, माँच, भागवतमेल, दौडाट्टा—ये सभी जनमानस के बीच एक तत्पर सास्कृतिक प्रवृत्ति के रूप मे विहरते रहे। इस युग मे परम्पराशील नाट्य परिवर्त्तनशील सामाजिक चेतना से प्रभावित होता रहा है, यद्यपि यह प्रभाव प्राय अपरोक्ष रूप मे ही पडा है। उदाहरणत, रासलीला मे महात्मा प्रेमानन्द ने प्रवचन गूँथने की प्रणाली चलाई, जो आर्यसमाज के उपदेशो की भाँति दर्शक-समाज को सीधे सम्बोधित करते हुए भी ब्रज के माधुर्य और शब्दावली से सम्पृक्त है। श्रीकृष्ण की लीलाओ के अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु के जीवनचरित पर आधारित रासलीलाओ का प्रदर्शन भी एक नवीनता ही है। जमीन्दारो और सत्ताधारियो के अत्याचार से प्रपीडित जनता की भावनाओ को राजस्थान के ख्याल, मालवा के माँच और गुजरात की भवई मे मार्मिक कथा-प्रसंगो द्वारा प्रतिबिम्बित किया जाने लगा। सामाजिक कुरीतियो (यथा, वृद्ध-विवाह) पर भी प्रखर आघात हिमाचल की 'करियाला' और बिहार की

'बिदेसिया' इत्यादि नाट्य-विधाओ मे होने लगा। जातिगत भेदभाव का विरोध अक्सर परम्पराशील नाट्य मे हुआ है और तमाशा एव भवई के विकास मे इस भेदभाव के विरुद्ध विद्रोह की भावना का विशेष हाथ रहा। ख्याल, मॉच और नौटकी के कई हीरो तथा-कथित निम्न जातियो से ही लिये गये। परम्पराशील नाट्य का इस युग के नागरिक साहित्य से सम्बन्ध टूट ही-सा गया।

बीसवी सदी मे पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव तथा सुधारवादी आन्दोलनो के फलस्वरूप जिस निम्न मध्यवर्ग के हाथ मे सामाजिक चेतना का नेतृत्व आया, उस वर्ग ने परम्पराशील रगमच और कला की उपेक्षा की। उसका साहित्य भी एक ओर तो पाश्चात्य धरोहर से सम्बद्ध था और दूसरी ओर उसका नैतिक दृष्टिकोण उल्लास और रसानुभूति के प्रतिकूल पडता था। निम्न मध्यवर्ग की इन प्रवृत्तियो को देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन ने और तीव्र कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जिस मध्ययुगीन वातावरण मे परम्पराशील आचलिक नाट्य-शैलियॉ विकसित हुई थी, उनके प्रति इस निम्न वर्ग का कोई अनुराग नही था। एक नई नागरिक सस्कृति ने जन्म लिया और उसके साथ ही परम्परा और ग्राम्य सस्कृति से परिवेष्टित इस रगमच को भी गौण स्थान मिलने लगा। अब यह परिस्थिति आ गई है कि परम्पराशील रगमच और नाट्य के समीचीन मूल्याकन के लिए हमे पाश्चात्य विद्वानो द्वारा लोक-सस्कृति की प्रतिष्ठा की दुहाई देनी पड़ती है।

परम्पराशील नाट्य और रगमच की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे हमे इसके वर्त्तमान रूप का आधार ज्ञात हो जाता है। स्पष्ट है कि इस नाट्य और रगमच मे दो हजार वर्षों की नाट्य-परम्परा के खण्डित अंश यत्र-तत्र बिखरे पडे है। एक ओर तो भरत द्वारा निर्देशित पूर्वरग के तत्त्व, दूसरी ओर जयदेव द्वारा प्रचलित सलाप और सूत्रधार की शैली, एक ओर भागवतधर्म के अवतारी पुरुषो की कथाएँ और दूसरी ओर मुगल-दरबार के परिहास और विनोद, एक ओर हस्तमुक्तावली मे दी गई मुद्राओ का चमत्कार, दूसरी ओर सत्रहवी शताब्दी की वेश-भूषा। मार्के की बात यह है कि इन विभिन्न तत्त्वो से मिश्रित शैलियाँ अपने निजत्व का अबतक निर्वाह कर सकी और उनमे से कुछ ने अपनी परम्परा अक्षुण्ण रखी।

रासलीला का एक युगल दृश्य

[द्वितीय भाग]

सामान्य विशेषताएँ

३. कथावस्तु और सामाजिक उद्देश्य

४ पात्राभिनय, गान, नृत्य और रस-निरूपण

५. रंग-व्यवस्था

६. वेशभूषा और पूर्वरंग

कथावस्तु और सामाजिक उद्देश्य

तीन प्रकार की कथावस्तु परम्पराशील नाट्यो या भाषा-सगीतको मे मिलती है। एक तो सारे देश के प्रेक्षको की पौराणिक कथाओ और पात्रो मे विशेष अभिरुचि इन नाटको मे प्रतिबिम्बित होती रही है; दूसरे, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो की प्रतिक्रिया-स्वरूप यथार्थ जीवन को प्रदर्शित करनेवाली कथाएँ भी प्राय प्रारम्भिक रूप मे कुछ नाटको का आधार रही है। तीसरे, प्रेम और शौर्य की कथाएँ, जिनका निरन्तर प्रवाह जनजीवन को सिचित करता रहा है, कुछ नाट्य-शैलियो मे विशेषत पाई जाती है।

प्रेमाख्यान और शौर्य-कथाएँ :

प्रेमाख्यान तथा शौर्य की कथाएँ, जिनका 'कथासरित्सागर' मे एक विशाल और मनोरजक सग्रह है, वैदिक काल से ही भारतीय जीवन मे प्रचलित रही है। धार्मिक आन्दोलन आये और चले गये। आक्रमणकारियो और शासको का भी आना-जाना बना रहा, किन्तु ये कथाएँ बराबर लोकप्रिय रही, यद्यपि इनके नायक-नायिकाओ के नाम और पृष्ठभूमि बदलती रही। उत्तर भारत मे भागवतधर्म के प्रचार के बाद पश्चिमी प्रदेशो मे विशेषत. मालवा और राजस्थान मे कुछ प्रेमाख्यानो को सूफी और वैरागी विचारो को व्यक्त करने के लिए साधन बनाया गया।

प्रेमाख्यानो की उत्कृष्ट परम्परा दिल्ली और आगरा के आसपास 'साँग' और 'सागीत' मे विशेषत· विकसित हुई। पजाब मे शालिवाहन राजा रसालू की कथा का साँग, प्राचीन युग मे सियालकोट के आसपास विभिन्न जातियो के सघर्ष की कथा को एक प्रेमाख्यान के रूप मे चालू किये हुए था। नौटंकी, जो अब साँग का ही एक पर्याय मानी जाती है, वस्तुत: कथा-विशेष की नायिका का नाम है। नौटकी मुलतान की शाहजादी थी, जिसके सौन्दर्य की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। पास ही एक रियासत मे भूपसिह और फूलसिह दो भाई थे। फूलसिह बिनब्याहा था, सुन्दर और स्वस्थ नौजवान। भोजन के विषय मे भाभी से लडाई हुई। भाभी ने ताना दिया कि ऐसी शान है, तो नौटकी से शादी क्यो नही कर लेते! फूलसिंह घोडे पर सवार होकर मुलतान चल दिया, यद्यपि नौटकी का पिता मुलतान का बादशाह अपनी क्रूरता के लिए कुख्यात था। शहर के बाहर बगीचे मे दोनो ठहरे। मालिन नौटकी के लिए माला बना रही थी। फूलसिह बडा दक्ष मालाकार था और उसने झट से बडी सुन्दर माला बना दी, जिसपर नौटंकी मोहित हो गई। मालिन ने कहा कि उसके भतीजे ने गुजरात की एक लडकी से शादी की है और उसी ने माला बनाई है। शाहजादी ने हुक्म दिया कि लडकी उसके पास लाई जाय। फूलसिह स्त्री-वेश मे नौटकी के पास पहुँच जाता है। वह उससे भी भैनाचारी करना चाहती है और रात मे साथ सोने के लिए आग्रह करती है। फूलसिह उससे पूछता है कि वह शादी क्यो नही कर लेती। वह कहती है कि मेरे योग्य कोई पुरुष ही नही। यदि तुम पुरुष होती, तो हमलोगों का जोडा अच्छा रहता। फूलसिह उससे कहता है कि अपने इष्ट

देवता का स्मरण करो, ताकि दोनो मे कोई एक पुरुष बन जाय। नौटकी वैसा ही करती है और तब फूलसिह अपने पुरुष-वेश मे प्रकट हो जाता है। दूसरे दिन एक दासी बादशाह को सूचना दे देती है। फूलसिह पकडा जाता है और उसको फाँसी की सजा होती है। नौटकी एक हाथ मे तलवार और दूसरे हाथ मे जहर का प्याला लिये हुए फाँसी के स्थल पर पहुँचती है और फूलसिह को छुडा लेती है। उसकी वीरता पर मुग्ध होकर बादशाह दोनो की शादी कर देता है।

नौटकी की कथावस्तु मे रोमाच और प्रेम के तत्त्व इस तरह से मिश्रित थे कि यह साँग हिन्दी-प्रदेशो मे तुरन्त लोकप्रिय हो गया। उसी ढग की परिस्थितियो पर और भी साँग रचे गये—जैसे हाथरस के नत्थाराम द्वारा रचित **स्याहपोश**। इसमे सीरिया के वजीर की पुत्री जमाल और हैरात के गबरू सैयद की प्रेमकथा है। इस नाटक मे प्रेम के अतिरिक्त दोस्ती के आदर्श को भी बहुत ऊँचा उठाया गया है। नत्थाराम ने हाथरस मे और दीपचन्द एव लक्ष्मीचन्द ने हरियाना मे प्रेमाख्यानो पर आधारित कई नाटक लिखे, जिनमे **पद्मा, खुदादोस्त, सारन्दे, चन्द्रकिरण** और **कुँवर निहालदे** विशेष उल्लेखनीय है। इनमे से अनेक मे मालिन, विश्वासी मित्र, जल्लाद इत्यादि पात्र हम पाते है और कुछ करिश्मो का भी उल्लेख होता है। पिछले दिनो राजकुमारो और शाहजादियो से हटकर प्रेमकथा मध्य वर्ग के युवक-युवतियो पर केन्द्रित हो गई है। **रँगीली रेश्मा** रूपनगर गाँव के जमीन्दार के पुत्र रणवीर और कुण्डनपुर गाँव की रेश्मा नामक लडकी के दुःखान्त प्रेम पर आधारित साँग है। **लीलोचमन** मे भारत-विभाजन के फलस्वरूप त्रस्त हिन्दू और मुसलमान प्रेमियो की दुःखान्त कथा है।

राजस्थान के ख्याल और मालवा के माँच के प्रेमाख्यानो मे कुछ ऐसे गीति-तत्त्व है और साथ ही नीतिपरकता भी, जो साँग और नौटकी की कथाओ मे नही है। वीरो के देश राजस्थान के भाटो और कवियो ने वीरता, आत्मबलिदान और उच्च मनोवृत्ति की कथाओ को जीवित रखा है। किन्तु विशेषता यह है कि राजस्थान के 'ख्याल' नाट्यो मे उन इतिहास-प्रसिद्ध राजपूत राजाओ की कथाएँ कम हैं, जिनका गुणगान राजदरबार के भाटो ने किया है। ऐसा जान पडता है कि सामान्य दर्शको ने उन वीरो की कथाओ मे अधिक अभिरुचि दिखाई, जो निर्धन और दलित जातियो की सेवा के कारण विख्यात हो गये। तेजाजी ऐसे ही एक वीर थे। बचपन मे शादी हो गई, लेकिन समधियो मे वैमनस्य के कारण उसने अपनी वधू को कभी देखा ही नही और न उसे मालूम था कि उसकी शादी हो चुकी है। भाभी से कहा-सुनी के बाद यह रहस्य जाहिर होता है और तेजाजी चल देता है अपनी पत्नी को लाने। रास्ते मे एक साँप को वनाग्नि से बचाता है, किन्तु साँप उसको काटना चाहता है; क्योकि उसने उसे मर जाने नहीं दिया। तेजाजी, यह वायदा करके कि अपनी पत्नी से मिलने के बाद वह लौटेगा, चल देता है। अनेक विघ्नो के उपरान्त पत्नी से मिलन की घडी आ जाती है, किन्तु तभी खबर आती है कि गरीब ग्वालो की गायो को कुछ गूजर जबरदस्ती उठा ले गये हैं। तेजाजी दस्युओ से युद्ध करके गउओं को बचा लेता है, लेकिन क्षत-विक्षत हो जाता है। मरणावस्था मे उसे याद आती है

सर्प को दिये गये वचन की। सर्प कहता है कि कहाँ काटूँ, तुम्हारे तो सारे बदन मे घाव भरे हुए है। तेजाजी अपनी जीभ प्रस्तुत कर देता है। साँप उसको मरते समय वर देता है कि उसकी कीर्त्ति सारे देश-भर मे गाई जायगी।

तेजाजी की कथा राजस्थान और मालवा मे ख्याल और माँच के दलो द्वारा बराबर प्रस्तुत की जाती है। आत्मोत्सर्ग का जैसा आदर्श इस कथा मे है, उससे मिलता-जुलता स्त्री के सतीत्व का आदर्श गुजरात के भवई के **जस्माओदन** नामक नाट्य मे भी है। मालवा के माँच **राजा भरथरी** की कथा मे सासारिक प्रेम की निष्फलता और गुरु के प्रति श्रद्धा का पाठ वर्णित है।

प्रेमाख्यान की कथावस्तु मे हमे चार विशेषताएँ दृष्टिगत होती है। प्रथम तो इनमे से अधिकतर नाटक दुःखान्त है। वर्त्तमान फिल्मो के समर्थक प्राय कहा करते है कि जन-साधारण को सुखान्त मनोरजन चाहिए। वस्तुत , ग्रामीण समाज मे प्रचलित कथाएँ प्राय वेदनासम्पृक्त होती है। किन्तु, यह वेदना निरर्थकता को घोषित नही करती। इसमे एक तरह की चिरन्तन गति है, हर आँसू मे एक तरह की उपलब्धि है, हर व्यथा मे पावक का गुण है। दूसरे, इन कथाओ मे प्रेम उच्चादर्शो से प्रेरित होते हुए भी इन्द्रियासक्ति से दूर नही भटकता। गीतो एव सवाद मे वासना का उत्तेजन करनेवाले प्रसग स्वच्छन्दता से दिये जाते है। तीसरे, उपदेशात्मक प्रसग इन कथाओ मे इतनी सहजता से समाविष्ट है कि जान पडता है कि दर्शक उपदेश की अपेक्षा करते हो। **स्याहपोश** नामक साँग मे गबरू फाँसी की रस्सी के नीचे खडा होकर अपनी पत्नी को विधवा होने के बाद पावन जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है। स्पष्ट है कि इन अवतरणो को बडे-बूढे उसी भाँति दोहराते होगे, जिस तरह युवक वासनाजन्य गीतो को। चौथी बात यह है कि इन कथाओ मे आत्मोत्सर्ग और आदर्शप्रियता शृगारिकता के समतुल्य ही दर्शको को प्रभावित करती है। दोस्ती निबाहना, त्रस्त जनता की सहायता करना, दिये गये वचन का पालन करना— ये ऐसे बुनियादी सिद्धान्त है, जिनके आधार पर जन-जीवन की आस्था खडी है और जो ग्रामीण वातावरण के स्वार्थ और काहिली के बावजूद, सार्थक है।

पौराणिक प्रसंग और भागवत धर्म

प्रेमाख्यान आचलिक नाट्य के उतने व्यापक रूप से कथानको के उद्गम नही है, जितने पौराणिक प्रसग। वस्तुत', आचलिक नाट्य का कलेवर सबसे अधिक मात्रा मे पुराणों और कथाओ से पोषित है। सस्कृत-नाटको ने भी पात्र और कथाबीज पुराणो और रामायण-महाभारत से ग्रहण किये, जैसे यूनान और रोम के नाटको ने उन देशो के प्राचीन आख्यानो से; किन्तु पुरावृत्तो से विचार या दृष्टिकोण नही लिये गये। पूर्वमध्य युग मे जब परम्पराशील आचलिक नाट्य-शैलियाँ विकसित हुई, तब समाज मे दो प्रतिक्रियाएँ उदित हुईं। एक तो उन तथाकथित धार्मिक कृत्यों के विरुद्ध, जो शाक्तो, तान्त्रिको और वाममार्गियो द्वारा फैलाये गये थे और दूसरे, सस्कृत के राजदरबार-सम्बन्धी नाटको मे वर्णित उच्चवर्गीय समाज के अनैतिक आचरणों के विरुद्ध। भागवत धर्म इन दोनों प्रतिक्रियाओ

का मूर्त्त और लोकसग्रही रूप था। जो नाट्य उस वातावरण मे पला और पनपा, उसे भागवत धर्म से पात्र और कथाएँ तो मिली ही, आदर्श, नीति और भक्ति-प्रेरणा का कलेवर भी प्राप्त हुआ। भागवत धर्म के लिए भी यह हितकर परिस्थिति थी, क्योंकि रगशाला और नाट्य भक्ति-सन्देश के माध्यम बन गये। मुस्लिम-राज्य मे धर्म का सवर्धन राज-दरबार से हटकर रगशाला का उत्तरदायित्व हो गया। रासलीला, रामलीला, कुचिपुडि, अकिया नाट, जात्रा, दशावतार इत्यादि ने ही भागवत धर्म को जन-साधारण के बीच स्थिर रखा, उसका विस्तार किया। वल्लभाचार्य, चैतन्य और शकरदेव ने बहुजन-सम्प्रेषण (मास कम्युनिकेशन) के ये ही साधन इस्तेमाल किये। बौद्धधर्म के लोकमानस से उठ जाने का कारण केवल यही नही था कि उसे जो राजकीय सरक्षण प्राप्त था, वह लुप्त हो गया, बल्कि यह भी कि उसे ऐसे प्रतिपक्षी, यानी भागवत धर्म से मुकाबिला करना पडा, जिसके पास विशाल जनता पर प्रभाव डालने के अत्यन्त रोचक, दृश्य-श्रव्य साधन (ऑडियो-विजुअल एड) मौजूद थे——नाटक, नृत्य, सगीत, कठपुतली इत्यादि। मुसलमान-शासन के बावजूद भागवत धर्म परम्पराशील रगमच के कारण जनमानस मे ४०० वर्ष से बराबर प्रतिष्ठित रहा और आज भी उसका प्रभाव बाकी है।

भागवत धर्म की कथाएँ देश के एक छोर से दूसरे छोर तक आचलिक परम्पराशील नाट्यो मे प्रचलित है। हिरण्यकशिपु और नृसिह का वृत्तान्त आन्ध्र, तमिलनाड, अकिया नाट और मथुरा की नृसिहयात्रा मे दिखाया जाता है। इस कथा का नाटकीय तत्त्व हिरण्यकशिपु के मद और घमण्ड के विस्तार और हनन मे विद्यमान है। वस्तुत , भागवत धर्म के नाट्य मे दर्प और घमण्ड को इसलिए इतनी अतिशयोक्ति के साथ प्रदर्शित किया जाता है कि उसकी तुलना मे भगवद्भक्ति के विनय और शालीनता का प्रभाव प्रेक्षको पर गहरा पडे। **परशुराम-विजय, रावण-वध, रुक्मिणी-हरण** इत्यादि नाटको मे परशुराम रावण और रुक्म का चित्रण इसीलिए बडी सशक्त भाषा मे और उनका अभिनय बडे ओजस्वी ढग से किया जाता है। प्राय सबसे अधिक अनुभवी और सिद्धहस्त अभिनेता इन भूमिकाओ मे उतरते है।

इस प्रचण्ड वातावरण के अतिरिक्त भागवत नाटकों मे मधुर और आत्मीय वातावरण का भी प्रत्यक्षीकरण है। **पारिजातहरण** कई शैलियो मे लोकप्रिय कथावस्तु है। कृष्ण उसमे एक सामान्य गृहस्थ के रूप मे प्रतीत होते है, जो अपनी दो पत्नियो——रुक्मिणी और सत्यभामा के पारस्परिक विवाद को रोक नही पाते। विशेषत , सत्यभामा का चरित कुचिपुडी मे इतने कौशल के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि वहाँ एक नई अभिव्यजना-शैली प्रचलित हो गई है, जिसे **भामाकलापम्** कहा जाता है और जिसे प्रस्तुत करने के लिए अत्यन्त उच्चकोटि के अभिनय की आवश्यकता होती है।

बालकृष्ण की छवि मथुरा-वृन्दावन की रासलीलाओं और असम के झुमरा नाटों में रूपायित हुई है। दानलीला का सर्वप्रथम प्रस्तुतीकरण असम के माधवदेव के एक झुमरा में हुआ। उसके बाद ब्रज मे तो लीलाओ की बाढ़-सी आ गई। जनसाधारण के बीच भगवान् का मनोमोहक रूप दिखाकर लीलाकार भक्त और भगवान् से इतना अन्तरंग

सम्बन्ध स्थापित कर देते है कि भक्त को भगवान् का स्पर्श सहज सम्भाव्य जान पडता है। आदिशक्ति की स्रोत भगवती का मातृस्वरूप दुर्गा और चण्डी के रूप मे बगाल के जात्रा-नाटको मे उद्भासित है। चण्डीमगल जात्रा मे दुर्गा के अपने पितृगृह लौटने की कथा को ऐसे सरल और भावुक ढग से प्रस्तुत किया जाता है, मानो बगाल की किसी सामान्य गृहस्थी मे कन्या के घर लौटने की झाँकी हो। आज भी वैष्णव-सम्प्रदाय जात्रा का अपने मत के प्रचार के लिए अत्यन्त प्रभावोत्पादक पद्धति से उपयोग करता है। आधुनिक जात्राओ मे चैतन्य महाप्रभु के चरित से सम्बद्ध जात्रा अत्यन्त मनोहारिणी है।

सामाजिक प्रसंग .

प्रेमाख्यानो और पुराणवृत्तो के अतिरिक्त परम्पराशील आचलिक नाट्य, समाज की आलोचना करनेवाले प्रसगो का भी उपयोग करते है। वस्तुत , भारतीय ग्रामीण की विनोद-प्रवृत्ति, ठोस बुद्धि और तीखी प्रतिक्रियाएँ इन प्रसगो मे निखरती है। सम्भवत , ऐसे आलोचना-मूलक सामाजिक प्रसगो का समावेश उस परम्परा का द्योतक है, जो सस्कृत-नाटको के युग मे भाणो और प्रहसनो मे निहित है। चूँकि ग्राम का वातावरण विलम्ब से परिवर्त्तित होता है, इसलिए भाण और प्रहसन की भगिमाएँ बाद मे चलती रही और आज भी वे परिहास, जो नगरो मे पुराने पड गये है, आचलिक नाट्य मे जारी है।

हिमाचल-प्रदेश का 'करियाला' नामक नाट्य इस बात का सबूत है कि ग्रामीण समाज बदलती हुई आर्थिक और सामाजिक समस्याओ से परिचित है। करियाला-नाट्य मे एक से अधिक छोटे-छोटे प्रहसन होते है, जिन्हे स्वाँग कहा जाता है। (यह उत्तरप्रदेश, पजाब के स्वाँग या साँग से भिन्न है।) साहूकार का स्वाँग, नम्बरदार का स्वाँग, गडेरिये का स्वाँग, थानेदार का स्वाँग, साहब और मेम का स्वाँग, इनमे हिमालय के सामान्य ग्रामीण की दृष्टि मे सामाजिक विषमताओ के चित्र खीचे जाते है। साधुओ के स्वाँग मे साधुओ की एक मण्डली किसी गाँव मे पहुँचती है और मुखिया के अनुरोध पर ग्रामवासियो को उपदेश देती है, जिनमे प्रज्ञा और दम्भ का अद्भुत मिश्रण है। एक ओर तो वे लोग ज्ञान और ध्यान की बाते करते है और दूसरी ओर मुखिया से दूध, दही और ईन्धन की माँग करते है। प्रमुख साधु अपने शिष्य से गगाजल लाने को कहता है। गगाजल आने पर साधुओ मे इस बात पर तकरार होती है कि कौन पहले स्नान करे। यह उस विवाद की प्रतिध्वनि है, जो कुम्भ मेले मे त्रिवेणी-स्नान के विषय मे साधु-मण्डलियो के बीच छिडा करता है और जिसपर अक्सर लोहू-लुहान हो जाता है। 'डायन का स्वाँग' मे एक ग्रामीण एक ऐसी स्त्री को, जिसके डायन होने का सन्देह है, भाभी नाम से सम्बोधित करता है। डायन शीशे के सामने खडी होकर अपने को सँवार रही है। 'भाभी, क्या कर रही हो?' 'मै मधुमक्षी मे पार्ट करने की तैयारी कर रही हूँ।' उन दिनो 'मधुमती' नाम की पुरानी फिल्म हिमाचल के गाँवो तक पहुँच गई थी और 'करियाला' के कलाकार ने मधुमती को मधुमक्षी बनाकर व्यग्य किया है। बूढे के ब्याह पर स्वाँग तो कटाक्ष और तीव्र परिहास से भरपूर है।

बूढे के ब्याह का कथानक बिहार के 'बिदेसिया' नाटको मे भी विशेष प्रिय रहा है। जैसा बिहार मे सर्वविदित है **भिखारी ठाकुर** की नाट्यशैली का नाम उनके प्रारम्भिक नाटक **बिदेसिया** के आधार पर पडा, जिसमे विदेश का अर्थ है कलकत्ता, जहाँ एक युवती का पति रोजगार के लिए जाता है और अन्य स्त्री के फेर मे पड जाता है। भोजपुरी-क्षेत्र से अगणित ग्रामीण कलकत्ता मे तरह-तरह की नौकरियो के लिए जाते है, अत इस विरहिणी बाला की करुण वियोग-कथा मानो सामान्य अनुभूति की प्रतिध्वनि हो गई और चूँकि इसकी अभिव्यजना सहज, सीधी और मुहावरेदार है, इसलिए थोडे ही समय मे वह स्त्री-पुरुषो के कण्ठ मे व्याप्त हो गई। **बिदेसिया** के बाद भिखारी ठाकुर ने अनमेल विवाह को अपने नाटको की विषय-वस्तु बनाया। सामाजिक समस्याओ पर केन्द्रित इन नाटको मे सवाद उदात्त और अश्लील इन दोनो के बीच डोलता है। अभिनेता को उपदेशात्मक मुद्रा से वासना-पूर्ण मुद्रा मे बदलते क्षण की देर नही लगती और दोनो ही रूप मे प्रेक्षक मानो उसके इशारे पर नाचते है।

भिखारी ठाकुर की अपेक्षा महाराष्ट्र के फट्टे बापूराव, जिनका देहान्त सन् १९४७ ई० मे हुआ, अधिक सुसस्कृत और पढे-लिखे थे। उनका व्यक्तिगत जीवन भी एक नाटक ही था, एक अछूत लडकी के प्रेम के कारण उन्होने अपने समाज को तिलाजलि दी और महाराष्ट्र के विख्यात 'तमाशा' नामक आचलिक नाट्य की एक मण्डली के नेता बन गये। फट्टे बापूराव द्वारा विरचित तमाशा **मिट्ठारानी** मे एक ऐसी राजकुमारी की कथा है, जो अपने निर्धन प्रेमी की खातिर महलो का राजसुख छोडकर दर-दर की भिखारिन होना स्वीकार करती है। 'तमाशा' में समसामयिक समाज पर टीका-टिप्पणी के अनेक अवसर होते है। प्राय परम्परागत 'तमाशा' मे मूलकथा एक ऐसे नायक को चित्रित करती है, जो अपने मूढ मित्र के साथ पहली बार नगर मे जाता है और वहाँ एक वेश्या से मुलाकात करता है। वेश्या चतुर है और दोनो के सवाद मे प्रश्नोत्तर की छाप है, जो हमारे यहाँ महाभारत-काल से ही लोक-साहित्य की परम्परा रही है और जिसमे वर्त्तमान समाज पर छीटाकशी करने के अनेक अवसर मिल जाते है।

वस्तुत, समाज की बदलती परिस्थितियो के प्रति परम्परागत नाट्य हमेशा जागरूक रहा है। सन् १९०४ ई० मे प्रकाशित लखनऊ के गजेटियर मे लखनऊ मे खेलनेवाली एक कश्मीरी मण्डली का विवरण दिया गया है। यह मण्डली अपने प्रहसनो मे अँगरेजी राज की कचहरियो, पुलिस के अफसरो और गोरे साहबो के कुत्सित घरेलू और सामाजिक जीवन का धडल्ले से खाका खींचती थी। १९वी सदी मे जॉन मैलकम ने मालवा मे बालुबा नामक ब्राह्मण द्वारा प्रदर्शित एक मॉच का विवरण दिया है। बालुबा के प्रहसन मे न केवल गणेश, शिव तथा दशावतार को प्रस्तुत किया जाता था, अपितु जिले के नये कारिन्दे की करतूतो का भी व्यग्य चित्र अभिनीत होता था। किस तरह से गॉव का पटेल कारिन्दे की नजर मे ऊँचा उठने के लिए ग्रामवासियों की उपेक्षा करता है और फिर स्वयं जलील हो जाता है, यह कथा ग्रामीण प्रेक्षको मे विशेष लोकप्रिय थी। मैलकम के वर्णन से यह स्पष्ट है कि

आचलिक नाट्य, समाज की निकटतम समस्याओ को अपने प्रदर्शन की विषयवस्तु बनाने से हिचकता नही था।

मैलकम के विवरण की ही भाँति कर्णाटक मे हुबली के गुरु सिद्ध द्वारा रचित एक नाटक का वर्णन मिलता है, जिसके सवाद मे अँगरेज-सरकार ने जो नया कर लगाया था, उसकी तीखी समालोचना थी।

वर्त्तमान नागरिक और साहित्यिक नाटक तो एक अन्तर्द्वन्द्व से उद्वेलित है—एक ओर तो सामाजिक समस्याओ का खिचाव और दूसरी ओर विकृत व्यक्तित्व के अचेतन मानस का आग्रह। परम्परागत आचलिक नाट्य इस दुविधा से मुक्त है। वह विना अकुश के मनोरजन कर सकता है, और उसी भाँति विना सशय या हिचकिचाहट के उपदेश भी देता है। वह समाज मे अपनी सार्थकता को भली भाँति समझता है और जानता है कि उसकी लोकप्रियता मनोरजन और उपदेश के सामजस्य पर ही निर्भर है।

पात्राभिनय, गान, नृत्य और रस-निरूपण

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त मे अभिनय न तो अनुकरण करता है, न उत्पत्ति, उसका उद्देश्य है व्यजना के माध्यम से रस की अनुभूति देना। व्यजना के लिए अनुभावो, सचारी इत्यादि की आवश्यकता होती है। नट मुद्राओ, वाणी, मुखाकृति तथा वेश-भूषा द्वारा पात्र-विशेष के शील का प्रत्यक्षीकरण करता है और इस तरह दर्शको के साथ एक तरह का सम्प्रेषण स्थापित हो जाता है।

पात्र-परिपाटी :

आचलिक नाट्य मे रूढ पात्रो के होते हुए भी विविधता इसलिए सम्भव हो सकती है, क्योकि एक ही पात्र एक-से अधिक रसो का वाहक हो सकता है। विविधता का आधार रस है न कि यथार्थ जीवन की अनुकृति। दूसरी बात यह है कि इन नाटको के प्राय मौखिक होने के कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि पात्रो का व्यवहार वर्गविशेष के गुणो को अभिव्यक्त करे। इसी को अँगरेजी मे 'स्टाक कैरेक्टर' कहते है। इस तरह के पात्रो मे रूढियाँ केवल रूपरेखा का काम करती है, उस रूपरेखा के दायरे मे नट अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा पात्र का चित्र पूरा कर सकता है। इस तरह एक ओर तो शास्त्रसम्मत रूपरेखा और दूसरी ओर व्यक्तिगत मौलिक प्रतिभा के सामजस्य से इन नाटको के पात्र चटकीले रगो मे उभरते है।

फिर भी, कुछ आचलिक नाट्यशैलियाँ अधिक शास्त्रसम्मत है। केरल के 'कूटियाट्टम्' मे मुद्राएँ अक्सर अलग-अलग शब्दो के अर्थ प्रत्यक्ष करती है। अभिनेता प्रत्येक शब्द का स्पष्ट उच्चारण करता है और उस शब्द के उपसर्ग और प्रत्यय का मुद्राओ द्वारा प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। **बालिवधनिका** नामक नाटक के प्रदर्शन मे सुग्रीव पहले तो अपने ताल, गति और अभिनय से यह स्थापित करता हे कि वह वानर है। कभी वह वृक्ष की शाखाओ को पकडकर हिलाने की भगिमाएँ करता है, पत्तियो को तोड फेकता है, बार-बार दाँत निकालकर दिखाता है, अपने सिर और नितम्ब को खरोचता है और तरह-तरह के शब्द करता है। तदुपरान्त, मुद्राओ द्वारा सुग्रीव के राजा होने की स्थापना की जाती हे। मुख-मुद्रा को केरल मे 'स्तोभ' कहते है, इसमे नेत्र, भ्रू, अधर और कपोल को अलग-अलग हिलाया जाता है। इस संश्लिष्ट अभिनय के लिए चाक्यार जाति के लोग बचपन मे ही प्रशिक्षण पाते है। इस समय केरल मे लगभग ६ चाक्यार-परिवार है। इसी परम्परा मे नाम्बियार लोग मृदग-वादन करते है और उनकी स्त्रियाँ, जिन्हे नान्यार कहा जाता है, कूटियाट्टम् मे स्त्रियो का अभिनय करती है तथा अन्य पात्रो के नृत्याभिनय के साथ सस्वर गाती भी है।

अन्य प्रकार के नाट्यो मे भी इस तरह अभिनय का उत्तरदायित्व बाँटा जाता है। तमिलनाडु-राज्य के मेलात्तूर गाँव मे वर्ष मे एक बार भागवतमेल नामक जो पौराणिक नाटक प्रस्तुत किये जाते है, उनके विभिन्न पात्र गाँव के विशेष कुटुम्बो द्वारा ही अभिनीत हो सकते है।

उदाहरणत , एक ही कुटुम्ब से हर वर्ष हरिश्चन्द्र की भूमिका मे उतरनेवाला व्यक्ति लिया जाता है। उस कुटुम्ब मे पीढी-दर-पीढी पितामह, पिता और पौत्र सभी ने अपने अपने जमाने मे हरिश्चन्द्र का ही पार्ट लिया होगा। यो, वे लोग उस पात्र के विशेषज्ञ बन जाते है। इसी भाँति हिरण्यकशिपु, चन्द्रमती, लीलावती के भी अलग-अलग कुटुम्ब है। कुटुम्ब का यह धर्म है कि वह पात्र-विशेष के लिए व्यवस्था करे, नही तो अनिष्ट की आशका है। अनिष्ट का भय आज दिन क्षीण होता जा रहा है। गाँव के अनेक युवक शहरो मे क्लर्क इत्यादि की नौकरी करने लगे है और अक्सर इस वार्षिक पर्व को सम्पन्न करने मे कठिनाई होने लगी है। आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व इस गाँव मे यह परम्परा स्थापित हुई थी, जब ये परिवार आन्ध्र से लाकर यहाँ बसाये गये थे। मद्रास-एकादमी के कुछ उत्साही कार्यकर्ता इस परम्परा को चालू रखने के लिए प्रयत्नशील है।

असम के सत्रो और मठो मे भी अभिनेताओ से अपना उत्तरदायित्व निबाहने के लिए इस प्रकार का अकुश अब नही रह गया है। १५वी-१६वी शताब्दियो मे जब महापुरुष शकरदेव ने वैष्णव मठो की स्थापना की, तब ये मठ आर्थिक दृष्टि से लगभग स्वावलम्बी थे और हरेक मठ से सम्बद्ध परिवार अथवा ब्रह्मचारी भक्त के कुछ धर्म निर्धारित थे। उनमे से एक धर्म था अकिया नाट मे भाग लेना। मठ अब आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नही रह गये है और उनके कुछ सदस्य नगरो मे नौकरी करने लग गये है। फिर भी, मेलात्तूर की अपेक्षा असम के सत्रो मे अब भी परम्परा अधिक सजीव और सशक्त है। उसका एक कारण यह भी है कि अभिनय के निर्देशन प्राचीन पोथियो मे दिये गये है, और मठ के मुख्य अधिकारियो, मुख्य गायको और वाद्यकारो का अनुशासन विधिवत् जारी है।

कुछ आचलिक नाट्यशैलियो मे रस-विशेष के उत्कर्ष के लिए नटो को विविध कलाओ मे दक्षता प्राप्त करनी होती है। कर्णाटक के 'यक्षगान' मे वीर-रस पर अधिक जोर दिया जाता है, नट को अक्सर भारी पोशाक पहनकर युद्ध का अभिनय करना पडता है, अत उसे हृष्ट-पुष्ट होने के लिए व्यायाम करना होता है। व्रज की रासलीला मे, चूँकि कृष्ण के बालचरित अथवा किशोर-क्रीडाओ का प्राधान्य है, इसलिए अल्पवय के बालको से ही अभिनय कराया जाता है। जहाँ स्वर मे प्रौढता आई, बालनायक समाजियो, यानी गायको की पक्ति मे शामिल हो जाता है। बालको से मुद्राओ और सकेतो का अभिनय प्राय मुश्किल होता है, अत वाणी और सवाद के चटपटेपन पर अधिक जोर दिया जाता है।

वाचिकाभिनय :

प्रेमाख्यानी नाटको मे, विशेषत जो पौराणिक वृत्तो पर आधारित नही है, करुण रस का अभिनय विशेष महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणत , यद्यपि नौटकी मे साकेतिक अभिनय का अभाव है, तथापि व्यथा की अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढग से की जाती है। किन्तु, नौटकी और साँग मे नट एक प्रकार के सकेत का व्यवहार बराबर करते है : सम्भाषण मे जब एक व्यक्ति बोलता है, तब दूसरा व्यक्ति बीच-बीच मे एक उँगली उठा-उठाकर मानो बात समझने का सकेत देता जाता है। सवादो के बीच इस तरह के संकेतो की

परिपाटी शायद एकरसता को दूर करने के लिए व्यवहृत होती है। सॉग मे एकरसता दूर करने के लिए पात्र एक विशेष क्रम से मच पर अपना स्थान भी बदलते रहते है और यों प्रेक्षक हर तरफ से प्रत्येक पात्र को देख सकते है।

प्रवचनात्मक अभिनय (अँगरेजी मे जिसे 'डिक्लेमेटरी' कहते है) राजस्थान, मालवा और उत्तरप्रदेश के नाट्यो की विशेषता है। सवाद के प्रत्येक अश का उच्च तथा घोषणापूर्ण स्वर मे वाचन किया जाता है और जान पडता है कि नट हर घोषणा के बाद आह्लाद और तृप्ति का अनुभव करता है। इन प्रादेशिक नाट्यो मे प्राय सभी नट ऊर्ध्व स्वर मे उच्चारण करते है। इसके दो कारण जान पडते है—एक तो इन मण्डलियो मे अक्सर एक ही व्यक्ति को कभी पुरुष और कभी स्त्री-पात्र का अभिनय करना होता है। अत, ऋषभ के स्थान पर निषाद स्वर अधिक उपयुक्त रहता है। दूसरे, ऊर्ध्व स्वर का विस्तार अधिक दूर तक होता है। माइक्रोफोन-युग से पहले की इन मण्डलियो को यह ध्यान रखना पडता है कि दूर-दूर तक श्रोता उनके सवाद को सुन सके।

पश्चिम प्रदेशो के आचलिक नाट्य, यानी गुजरात के 'भवई' और महाराष्ट्र के 'तमाशा' मे करुण रस की अपेक्षा हास्यरस का उत्कर्ष देखा जाता है। 'भवई' मे विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो के व्यवहार और आदतो का सजीव चित्र प्रस्तुत करने के लिए प्राय अनेक लघु एकाकी अभिनीत होते है। ये एकाकी 'वेश' कहलाते है। प्रत्येक 'वेश' मे नृत्य और क्षिप्र सवाद का तॉता-सा बँधा रहता है और प्रश्नोत्तर-माला द्वारा प्रेक्षको की उत्सुकता बनी रहती है। महाराष्ट्र के तमाशा मे तो प्रश्नो की झडी-सी लग जाती है, और कुछ कूट-प्रश्न महाभारत मे यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से पूछे गये प्रश्नो की याद दिलाते है।

वस्तुत, आचलिक नाट्य के अभिनय मे परम्परागत निर्देशो और प्रत्युत्पन्नमति का सम्मिश्रण होता है। परम्परागत निर्देशो का पालन गम्भीर प्रसगो पर होता है कि तारीफ यह है कि वही नट जब समसामयिक जीवन के यथार्थ-द्योतक प्रसग पर आता है, तब आशुकवि की भॉति आवश्यकतानुसार यथार्थमूलक संवाद की सृष्टि करता चलता है। चैतन्य महाप्रभु के जीवन पर जात्रा मे मैंने एक ही अभिनेता को दोनो प्रकार का अभिनय करते देखा है। बिदेसिया के भिखारी ठाकुर भी इसी भॉति दो स्तरो पर सहज ही अभिनय कर लेते है। दो स्तरो के अभिनय और सवाद की प्रणाली जयदेव के समय से ही आचलिक रगशालाओ में आ गई थी। जैसा मैंने पहले कहा है, जयदेव के **गीतगोविन्द** से सलाप-शैली का विकास हुआ। यथार्थमूलक कथनोपकथन दूसरी प्रकार की सवाद-शैली थी। 'जात्रा', 'बिदेसिया' और बिहार के 'कीर्त्तनियाँ' एव 'बिदापत' नाच में इस प्रकार गाम्भीर्य और लालित्य का जो सम्मिश्रण पाया जाता है, उसका मध्ययुगीन स्वरूप मैंने असम के अकिया नाटों मे देखा।

सूत्रधार और विदूषक :

परम्पराशील नाट्य के अभिनेता को एक से अधिक प्रकार की दक्षता प्राप्त करना आवश्यक है। इन मण्डलियो मे सबसे अधिक पारगत सूत्रधार को होना पडता है। संस्कृत-

नाटको मे सूत्रधार प्रस्तावक का काम करता है, किन्तु आंचलिक नाट्य मे सूत्रधार प्रस्तावक भी है और वाचक भी। वह घोषणा करता है और साथ ही नाट्य के मार्मिक स्थलो को स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी टिप्पणी भी देता जाता है। तमिलनाडु के 'वीथि-नाटकम्, मे सूत्रधार को 'कट्टियगरन' कहते है और वह प्रत्येक प्रधान पात्र का प्रारम्भ मे परिचय देता है। यह परिचय मुद्राओ और सकेतो द्वारा गीत का अर्थ स्पष्ट करते हुए दिया जाता है।

भवई मे सूत्रधार को नायक कहते है। उत्तरप्रदेश के 'नकल' और 'भगत' नामक प्रदर्शन मे सूत्रधार को 'खलीफा' नाम से सम्बोधित किया जाता है। खलीफा प्रारम्भ मे रगशाला मे आकर नाटक की रूपरेखा समझा देता है और फिर एक स्थान पर बैठकर बराबर अभिनय के लिए निर्देशन देता रहता है। आगरा की भगत-शैली मे खलीफा के पद की विशेष प्रतिष्ठा है। नगर के विभिन्न भागो मे मण्डलियाँ है और उनके अलग-अलग खलीफा। यदि कोई नट खलीफा बनना चाहता है, तो पहले तो वह अन्य खलीफाओ के पास इलायची भेजता है। फिर, सब खलीफाओ के मुहल्ले मे जाकर उनके सम्मुख किसी पद का वाचन करता है, जिसके उत्तर मे वे भी पद प्रस्तुत करते है। इस तरह अलग-अलग स्थानो मे जाकर उसे अपनी योग्यता से प्रभावित करनी पडती है। जब अन्य खलीफा लोग उसे अपनी श्रेणी मे स्वीकार कर लेते है, तब पगडी बाँधने की रस्म अदा की जाती है।

फिर भी, सूत्रधार की सबसे सुसस्कृत और प्रभावशाली परम्परा असम के अकिया नाट मे ही मैने देखी। शायद इसका एक कारण यह है कि अकिया नाट लिखित रूप मे उपलब्ध है और उनमे सूत्रधार के लिए उपयुक्त पाठ स्थिर है। इसीलिए, अकिया रग-शाला मे सूत्रधार की पोशाक भी अन्य आंचलिक रगमच की अपेक्षा अधिक परम्परागत है. सफेद पाजामा, जिसे 'चूडी' कहते है, 'गाठी सेला' नामक जामा, जिसकी बाँह ढीली और लम्बी होती है और रग गुलाबी, 'गाठीकापड' नामक कमरबन्द और सिर पर पगडी। हर पात्र-प्रवेश पर सूत्रधार ही सूचना देता है। उसकी घोषणाएँ और टिप्पणियाँ विशेष परिपाटी के अनुसार ही होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि शकरदेव ने इस प्रकार के सूत्रधार की सृष्टि भागवत-पाठ करनेवाले कथाकार पण्डितो के अनुसरण मे की। वस्तुत, शकर-देव ने अपने नाटको द्वारा भागवत की कथाओ को केवल श्रव्य-पाठ की जगह दृश्य-श्रव्य के प्रदर्शन मे प्रस्तुत किया। इस तरह कथाकार पण्डित ही सूत्रधार के रूप मे अवतीर्ण हुआ। सूत्रधार का यह उद्बोधक रूप वस्तुत· शकरदेव की मौलिक सृष्टि थी।

सूत्रधार की ही भाँति आंचलिक रगमच का एक दूसरा रूढ पात्र (स्टाक-कैरेक्टर) है विदूषक। अक्सर एक विधा के सब नाटको मे विदूषक का नाम एक ही होता है। कर्णाटक के प्रत्येक 'दौडाट्टा' नाट्य मे सूत्रधार 'अडासोगु' के नाम से पुकारा जाता है। बढा हुआ पेट, लम्बी मूछे, हाथ मे छडी—ऐसे रूप मे वह मच पर आता है। मालवा के माँच मे विदूषक का नाम है—शेरमारखाँ। वह प्राय नाटक के नायक के साथ रहता है। चाहे नाटक का नायक राजा भरथरी हो, उसका विनोदशील संगी शेरमारखाँ ही कहलायगा।

शेरमारखाँ केवल विदूषक ही नही है। कभी-कभी वह नायक के स्थान पर भी काम करता है। इस तरह एक पात्र द्वारा दूसरे का भार सँभालने को 'तलवार देना' कहा जाता है। नायक की भूमिका करनेवाला नट जब थक जाता हे, तब वह अपनी तलवार शेरमारखाँ को थमा देता है और इसके अर्थ है कि उस नट के लौटने तक शेरमारखाँ ही नायक का पार्ट करेगा। रासलीला मे विदूषक को 'मनसुखा' कहा जाता है। ग्वालबालो मे वह हँसोड होता है और प्राय गोपियाँ उसे ही छेडती है।

नायक के साथ विदूषक की परम्परा सस्कृत के गौरव-ग्रन्थो से आई है और प्राचीन राजदरबारो मे नर्मसचिव के समान ही रगशालाओ मे स्वीकृत हुई। केरल का कूट्टिया-ट्टम् सस्कृत-रगशाला के सबसे अधिक निकट होने के कारण उसमे विदूषक भोजन-प्रेमी ब्राह्मण के रूप मे प्रदर्शित किया जाता हे। वह बराबर नायक के साथ रहता है और नायक जो सवाद सस्कृत मे कहता है, उसका सटिप्पण छायानुवाद वह मलयालम मे करता जाता है। उसकी टिप्पणी मे मूल के अन्यान्य अर्थ लगाये जाते है। राजदरबार के लोगो का खाका खीचा जाता है, ब्राह्मणो की छीछालेदर की जाती है और सामाजिक कुरीतियाँ अथवा राजनीतिक अभिसन्धियो का भी भण्डाफोड होता हे। विदूषक मच पर जाते समय अपने कान मे पान का बीडा लगा लेता हे। ऐसा करने पर वह राजदण्ड से परोक्ष माना जाता है। प्रेक्षको मे जिसकी चाहे, वह आलोचना कर सकता हे। किसी को यह अधिकार नही है कि विदूषक की बात पर उसे दण्डित करने की चेष्टा करे। कला और साहित्य मे पारगत होने के कारण विदूषक अलकारो और शब्द-चातुर्य द्वारा अपनी आलोचना को रोचक और अनुरजित रूप दे सकता है। बोलते समय विदूषक मुँह मे कुछ चबाता भी रहता है। कभी-कभी अपने यज्ञोपवीत को ठीक करता है, कभी अपनी शिखा को सँवारता है, कभी अपने अगवस्त्र को निचोडने का अभिनय करता है। प्राय वह नासिका-स्वर मे बोलता है।

मेलात्तूर के भागवतमेल मे, जो मन्दिरो के सम्मुख खेला जाता है, विदूषक को 'कोनगी' कहते है और वह प्राय एक वैष्णव-भक्त का अतिरजित स्वरूप होता है। कोनगी का अर्थ है वक्र, उसकी टोपी टेढी होती है और मस्तक पर वैष्णव-तिलक, लम्बी दाढी, नीला जामा, एक हाथ मे माला, दूसरे मे दर्शको की कुदृष्टि से बचाव के लिए एक धवल वस्त्र, जिसके सिरे पर लाल रग का दूसरा वस्त्र बँधा रहता है। कोनगी अभिनय के बीच मे दर्शको को शान्त रहने का आदेश देता चलता हे।

नटों की परम्पराएँ और व्यवसाय :

प्राय· अधिकतर आचलिक नाट्यो मे स्त्री-पात्रो की भूमिका मे पुरुष ही उतरते है। मध्ययुग मे दो परिस्थितियो के कारण शायद यह परम्परा चल पडी, क्योकि प्राचीन युग मे तो सस्कृत-रगमच पर निस्सन्देह स्त्रियाँ अभिनय करती थी। पहली बात तो यह हुई कि मन्दिरो मे नृत्य-नाट्य के प्रदर्शन के लिए जो देवदासियाँ अथवा नटियाँ रहती थी, उनकी उपस्थिति के कारण मन्दिरों का वातावरण दूषित होने लगा। राजप्रासादो में जो रंगशालाएँ थी, वहाँ तो नटियो के प्रेमचक्र की वार्त्ताओ से कोई विशेष अन्तर नही प८ा। आठवीं

शताब्दी मे दामोदरगुप्त के 'कुट्टनीमतकाव्य' मे नटी-समाज का विशद वर्णन है। किन्तु, राजप्रासादो की रगशाला के ह्रास के बाद मन्दिरो मे नटियो का जमाव होने लगा, तब कुछ समय उपरान्त मन्दिरो का वातावरण बदलने की जरूरत पडी। उन्ही दिनो दक्षिण मे 'भागवतरो' और उत्तर मे भक्तो और सन्तो ने मन्दिरो की रगशालाओ को अपने हाथ मे लिया। उन्ही दिनो भागवत धर्म पर आश्रित सम्प्रदायवादी नाटको का उत्कर्ष हुआ। भागवतरो और भक्तो ने स्त्री-पात्रो के पुरुषो द्वारा सम्पन्न किये जाने की व्यवस्था चालू की।

दूसरी परिस्थिति मुसलमानी राज्य की स्थापना के कारण पैदा हुई। फारसी परम्परा मे नृत्य के लिए किशोरो को ही पसन्द किया जाता था। मुस्लिम-राज्यकाल मे स्थानीय नटियो के लिए खुले आम प्रदर्शन करना वैसे भी कठिन होता चला गया। दिल्ली के आसपास जिन शैलियो का विकास हुआ—सॉग, नौटकी, ख्याल, मॉच इत्यादि, उनपर मुस्लिम-सस्कृति का प्रभाव पडा ही और यो स्त्री-पात्रो की भूमिका मे पुरुषो और बालको के उतरने की पद्धति चालू हो गई।

इस सामान्य परिपाटी के कुछ अपवाद भी है। कूट्टियाट्टम् मे स्त्री-पात्र नान्यार-कन्याओ द्वारा ही लिये जाते है। महाराष्ट्र के 'तमाशा' मे भी स्त्रियॉ ही नटी का काम करती है। मिथिला का जट-जटिन-सवाद तो सर्वथा स्त्रियो का ही मनोरजन और उनकी ही रगशाला है।

परम्पराशील रगमच मे नटो के व्यवसाय और उनके प्रशिक्षण की परिस्थिति सन्तोषजनक नही कही जा सकती। उत्तर कर्नाटक मे १०वी सदी मे विरचित **सभालक्षण** नामक ग्रन्थ मे नटो की शिक्षा के लिए कुछ आदेश दिये गये है। मिथिला मे ज्योतिरीश्वर ठाकुर के **वर्णनरत्नाकर** का जिक्र मै पहले ही कर चुका हूँ। केरल मे **अट्टप्रकार** नामक ग्रन्थ मे पद्य-सवादो को मुद्राओ और अभिनयो द्वारा प्रकट करने की पद्धति समझाई गई है। किन्तु, ग्रन्थो की अपेक्षा गुरु के निर्देशन मे नट अपनी शिक्षा पाते है। केरल के ईसाई-नाट्य 'चविट्टु' के लिए नाना प्रकार के अस्त्रशस्त्रो का सचालन और विविध व्यायाम सीखने होते है।

दक्षिण मे नटो की शिक्षा-प्रणाली जितनी विधिवत् है, उतनी उत्तर मे नही। सॉग, मॉच, ख्याल इत्यादि मे प्रदर्शन के समय ही नौसिखिया गुरु से आदेश पाता है। हॉ, ब्रज की रासलीला मे बालको की शिक्षा की कुछ अधिक ब्योरेवार व्यवस्था है, विशेषत गान-पद्धति की।

नटो का व्यवसाय अनिश्चित ही माना जायगा। अधिकतर मण्डलियो मे भोजन और कपडे की व्यवस्था होती है और थोडा बहुत ऊपर से द्रव्य दिया जाता है। तमाशा मे खेल के बाद थारी फिराने की प्रथा है। आगे की पक्ति मे बैठे हुए दर्शक प्राय गीतो की पुनरुक्ति कराते है और प्रतिस्पर्द्धा मे बीसियो रुपये निछावर कर देते है। रासलीला और रामलीलाओ मे प्रदर्शन के बाद आरती होती है और उस समय प्राप्त [illegible] नटो मे बॉटी जाती है।

नाट्य-सगीत :

परम्पराशील नाट्य मे गान भावाभिव्यजना का मुख्य साधन है, गद्य-सवाद कार्य-व्यापार को आगे बढाने का माध्यम तथा नृत्य अलकरण द्वारा वातावरण का प्रेरक। इन तीनो के यथोचित सम्मिश्रण से ही इस नाट्य की उद्भावना होती है। पाश्चात्य देशो मे ड्रामा, बैले और ओपेरा—ये तीन विभिन्न विधाएँ पिछले तीन सौ वर्षों मे विकसित हुई है। हमारे यहाँ हाल तक इस तरह का विभक्तीकरण था ही नही। भारतवर्ष मे मिश्रित विधा के प्रचलन का एक तो कारण है हमारे जीवन-दर्शन मे सामजस्य की प्रधानता और दूसरे, हमारे कला-सिद्धान्त मे रस का सर्वसग्रही उद्देश्य। किन्तु, सिद्धान्तपरकता के अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी कलाकारो और प्रेक्षक-समाज दोनो को गान, सवाद और नृत्य के सम्मिश्रण मे ही सुविधा रही है। बात यह है कि प्राय सभी आचलिक नाट्यो मे लिखित सामग्री (स्क्रिप्ट) सम्पूर्ण नही होती। साँग, नौटकी और जात्राएँ तो अब भी लिखी जाती है, किन्तु प्राय नाटक का सम्पूर्ण रूप स्मृति और आशुशक्ति पर अवलम्बित रहता है। पीढी-दर-पीढी कण्ठों से ये गीत मुखर होते रहते है। सवाद यथावसर जोड लिया जाता है। मौखिक पद्धति मे आसानी यह है कि प्रेक्षको की बदलती अभिरुचि के अनुसार गीतो की धुने और छवियाँ भी बदली जा सकती है। यानी, परम्परा को कायम रखने के साथ उनकी ग्रहणशीलता नही खोई जाती। दूसरे मन्दिरों और मठो के कलाकारो को छोडकर अधिकतर नट-नटी सुसस्कृत और ज्ञानी होते हुए भी लिखने से अनभिज्ञ होते है, और उनके लिए गीतों को याद रखना आसान होता है। तीसरे, इन नाट्यों का प्रदर्शन प्राय गाँवो मे होता है, जहाँ हाल तक याता-यात की सुविधाएँ अत्यन्त सीमित थी। अत, रगप्रदर्शन यदि रात्रि मे भोजन के बाद प्रारम्भ होता था, तो उसका रात-भर चलते रहना जरूरी था, ताकि दर्शक-समाज—विशेषत स्त्रियो को मध्यरात्रि मे दूर-दूर पैदल न लौटना पडे। नाटक यदि केवल सवाद और कथानक पर ही आश्रित रहे, तो दो-तीन घण्टो में ही समाप्त हो जाय। अत, नृत्य और गीतों का प्राचुर्य, छोटे कथानक के दायरे को भी विस्तृत कर देता है एव दर्शको को सुविधा और तृप्ति दोनो ही उपलब्ध हो जाते है। चौथी बात यह है कि जिस मध्य युग मे ये नाट्य-शैलियाँ पनपी, वह सामन्तों और राजा-महाराजो का युग था, जो अपने धन और सरक्षण द्वारा अपने तथा अपने वर्ग के लोगो के मनोरंजन के लिए बडे-से-बडे नर्त्तको और गायको को रख सकते है। मध्ययुग के भारतीय समाज मे यह विशेषता थी कि उच्च वर्ग के लोगो ने अपने मनोरजन के लिए कक्ष-कला (चेम्बर आर्ट) को ही प्रोत्साहन दिया, सामान्य कला की उपेक्षा की; संगीत दीवाने खास की चीज हो गई, दीवाने आम की नही। जिस विशाल परिप्रेक्ष्य मे प्राचीन नृत्य और संगीत का उल्लास उमडता था, उसकी छोटी-छोटी टुकडियों को अन्त पुर के नाजुक नूपुरों मे परिवर्त्तित कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि जनसाधारण को सगीत और नृत्य का रसास्वादन कराने का उत्तरदायित्व परम्पराशील नाट्य पर पड़ा। अतः, इन नाट्यों के कथानक की आवश्यकताओ के बिना भी

सगीत और नृत्य का प्रचुर समावेश होता गया और यो सर्वसाधारण के मनोरजन और कला की माँग पूरी की गई।

फिर भी, यह विचार गलत होगा कि परम्पराशील नाट्यविधाओ मे सगीत केवल भरती का ही होता है। सगीत की कर्मगत उपयोगिता (फक्शनल यूज) भी है। मृदग और ढोलक को ही ले। नगाडे और मृदग की ठनक दर्शको को एकत्र करने का आमन्त्रण और प्रदर्शन के प्रारम्भ की घोषणा होती है। दूसरे, दृश्य-परिवर्त्तन के लिए पर्दे तो होते ही नही, ढोलक एव अन्य पुष्कर-वाद्य ही पात्रो को एक प्रसग से दूसरे, एक सवाद से दूसरे की ओर मुडने का सकेत देते है। यह सकेत-प्रणाली कही-कही काफी जटिल होती है। तीसरे मृदग और ढोलक के स्वर सवाद के स्वरो की अनुगूँज (कन्फर्मेशन ऑव बिट्स ऑव ए डायलॉग) का काम भी करते है। भावाविष्ट वाक्य के बाद वादक नगाडे पर एक टुकडी मे उसी की पुनरुक्ति करता है, गीत की झडी मे सन्निहित ताल को मानो मृदग की थाप सुस्पष्ट करती है। साँग और नौटकी मे तो अक्सर नगाडे और ढोलकी की ताल मे मानवीय स्वर की गति प्रतिबिम्बित होती है। खड्गो की टकराहट, घोडो की टापे मानो मृदग मे ही प्रतिध्वनित होती है। तात्पर्य यह है कि तालसगीत आचलिक नाट्य मे सवाद का विस्तार है, उसका दीर्घीकरण (एक्सटेशन ऑव द डायलॉग) है।

अब गीतो को लीजिए। अनेक नाट्यो का अध्ययन करने के बाद मुझे रग-गान के दो प्रकार दीख पडे—एक तो वार्त्तिक (यानी नैरेशन) और दूसरा गीत्यात्मक (यानी लिरिकल)। वार्त्तिक गान के रागो की सख्या एक नाट्य मे एक या दो से अधिक नही होती। उसे एक तरह से नाटक-विशेष की मूल धुन कह सकते है। वार्त्तिक-गान का व्यवहार सूत्र-धार नाटक के विभिन्न अगो को जोडनेवाली कडी के लिए करता है, कभी-कभी जैसे रास-लीला मे दो पात्रो के बीच प्रश्नोत्तरी के लिए भी वार्त्तिक-गान का ही प्रयोग होता है। गीति-प्रधान (यानी लिरिकल) गान अनेक होते है और विविध रागो मे निबद्ध। एक नाटक मे बीस-तीस राग तक मैने पाये हैं। ये गीत पात्र या परिस्थिति के अनुकूल रस का उत्कर्ष करते है और साथ ही कथन-गीत या वार्त्तालाप का काम भी करते है।

प्राचीन काल से ही देशी, यानी स्थानीय और मार्गी, यानी शास्त्रीय रागो का भेद रहा है और परम्पराशील नाट्य-विधाओ मे दोनो प्रकार के रागो का व्यवहार होता रहा है। इस समय तो जिन रागो को देशी कहा जाता है, वे भी उतने ही शास्त्रीय प्रतीत होते है, जितने शास्त्रीय राग; यथा मारवा, काँगडा, सोरठ, गुजरी। निस्सन्देह अचलविशेष मे जनसाधारण मे प्रचलित धुनो को ही नाट्य के प्रयोजन के लिए थाटो मे बाँधा गया। कालान्तर मे आज ये राग मे उतने ही अभिजात प्रतीत होते है, जितने बागेश्वरी, आसावरी, भैरव इत्यादि। यह प्रक्रिया लोकनाट्यो मे बराबर चलती रही है। मुझे सन् १८८० ई० के आसपास की, ब्रजभाषा मे लिखे एक रूपक की, पाण्डुलिपि मिली है, जिसमे तत्कालीन प्रचलित धुनो के आधार पर गीत निबद्ध है। अब भी नौटकियो और बिदेसिया इत्यादि नाट्यो मे राग के नाम के स्थान पर 'धुन' या तर्ज का उल्लेख होता है, यथा. 'तर्ज राधेश्याम' अथवा 'मेरे मौला बुला लो मदीने मुझे।' लेकिन, धुनो को

रागनिबद्ध करने की यह प्रथा इतनी पुरानी और मँजी हुई है कि वर्तमान धुनो को यदि छोड दे, तो अन्य लगभग सभी देशी धुने नाट्यनिबद्ध होने के बाद कालान्तर मे शास्त्रीय रागो के समान ही विधिवत् और अलकृत हो गई, चलती तर्जे भी नाट्य की गीतमाला मे गुँथने के उपरान्त सगीत की स्थायी सम्पत्ति बन गई। इसी लिए, दक्षिण भारत मे भागवतमेल का सगीत उतना ही उत्कृष्ट और पाण्डित्यसूचक माना जाता है, जितना अन्य शास्त्रीय सगीत।

किन्तु नाट्य-गान और शास्त्रीय गान मे एक बुनियादी अन्तर यह है कि उत्तर भारत मे शास्त्रीय गान मे स्वर का अलकरण, तान, मुरकियाँ, मूर्च्छना इत्यादि प्रधान हो गये और शब्द और अर्थ गौण माने जाने लगे। मुगल-काल मे राग का प्रत्यक्षीकरण इन अलकारो का प्रदर्शन ही माना जाने लगा। जो उस्ताद बारीकी और सफाई के साथ अपने स्वरो से जितने ही अधिक चमत्कार प्रस्तुत कर सकता, वह उतना ही ऊँचा कलावन्त समझा गया। आज दिन हम रागो की ख्याल-पद्धति मे ही शास्त्रीय सगीत का परिपाक मानते है। परिणाम यह है कि उस्ताद और गुणी शब्द और अर्थ की महत्ता के प्रति उदासीन हो गये। गीत की पक्तियाँ इतनी गौण हो गई कि 'गावत राग हम्मीर' इन तीन शब्दो के सहारे ही समूचे राग हम्मीर की रूपरेखा प्रस्तुत की जाने लगी। परन्तु, अधिकतर रागो का मूल उद्देश्य रस-विशेष को प्रकट करना था और इसके लिए पद्य के आशय को समझना अनिवार्य था। ख्याल-पद्धति और ध्रुवपद-पद्धति मे यही मौलिक अन्तर है।

यहाँ 'ध्रुव' शब्द पर कुछ विचार करना जरूरी जान पडता है। परम्पराशील नाट्यो मे ध्रुव शब्द प्राय टेक या स्थायी के लिए प्रयुक्त हुआ है। जयदेव के गीतगोविन्द में 'ध्रुव' का अत्यन्त स्पष्ट निर्देशन मिलता है और उसके बाद जो सगीतक लिखे गये, उनमे गीतो की पहली दो पक्तिया 'ध्रुव' कही गई है और बाकी पक्तियाँ 'पद'। असम के अकिया नाट और मिथिला एवं नेपाल के कीर्त्तनियाँ नाटको मे ध्रुव और पद का यह क्रम निरन्तर दीख पडता है। इसी पद्धति का पालन दक्षिण के भागवतमेल नाटको मे, जो आन्ध्र और तमिलनाडु मे प्रचलित है, पाया जाता है। तजौर की सरस्वतीमहल-लाइब्रेरी मे मुझे १८वी सदी मे रचे गये दो ऐसे गद्य-नाटको की पाण्डुलिपियाँ देखने को मिली, जो ब्रज-भाषा मे रचे गये थे, यद्यपि लिपि उनकी तेलुगु है और शायद उन्हे रगशाला मे प्रस्तुत करने-वाले नट-नटी तमिलनाडु-निवासी रहे होगे। इनमे टेक के लिए 'दरवु' शब्द लिखा गया है जो ध्रुव का ही अपभ्रश है। मेलात्तूर ग्राम के नाट्य मे भी ध्रुव के लिए 'दरवु' शब्द और गीत की अन्य पक्तियो के लिए 'पद' का व्यवहार होता है। मेरा अनुमान है कि जयदेव के गीतगोविन्द की लोकप्रियता के फलस्वरूप ११वी से १५वी शताब्दी के बीच रंगप्रदर्शन के लिए नाटय-गीतो मे ध्रुव और पद का यह क्रम इतना व्यापक हो गया कि जब मुगल-दरबार मे ख्याल-पद्धति का विकास हुआ, तब प्राचीन शब्द-प्रधान राग-पद्धति को 'ध्रुवपद' की सज्ञा दी गई है। इस 'ध्रुवपद-पद्धति' के आकार को अक्षुण्ण रखने के लिए उसे तानो से मुक्त रखा गया। इसी तरह शब्दों का सम्यक् उच्चारण हो सकता था। स्पष्ट है कि ध्रुपद मे शब्दो के सही उच्चारण पर जोर उनके नाट्यमूलक उद्भव के कारण ही है।

भरत के नाट्यशास्त्र मे एक और शब्द मिलता है—'ध्रुवा'। डॉ० राघवन का कथन है कि ध्रुवा पात्रो के प्रवेश और निष्क्रान्ति के अवसर पर गायक-मण्डली द्वारा गाये जाते थे। कभी-कभी ध्रुवा किसी विशेष नाट्यसन्धि को स्पष्ट करने के लिए, कभी किसी प्रसग को अग्रसर करने के लिए और कभी कथानक मे तनाव की परिस्थिति को ढील देने के लिए और कभी कथानक मे रिक्त अवधि को पूरा करने के लिए ध्रुवागीतियो का गान होता था। मेरा विचार है कि ध्रुवा शब्द उन गानो के लिए प्रयुक्त होता था, जो गायक-मण्डली गाती थी और ये गान उन गीतो से भिन्न थे जो पात्राभिनय करनेवाले नट-नटी स्वय सवाद के रूप मे गाते थे। शायद जिन्हे मैने अन्यत्र वार्त्तिकगान कहा है, वही ध्रुवा थे और जिन्हे गीतिप्रधान गान कहा है, वही ध्रुवपद थे। कालान्तर मे यह अन्तर धुँधला पड गया है।

फिर भी, किसी-न-किसी प्रकार की 'टेक' का सहारा सर्वदा नाट्य-प्रदर्शन मे अनिवार्य रहा। उत्तरप्रदेश, राजस्थान और मालवा के नाट्यो मे ये टेक गान-मण्डली ही उठाती है। कुछ शैलियो मे टेक के स्थान पर कुछ ध्वनियाँ बार-बार गाई जाती है, जिन्हे अगरेजी मे 'ड्रोन' कह सकते है और जो तानपूरे पर वजाये जानेवाले समस्वर के समान होती हे। राजस्थान के ख्याल-नाट्य मे अभिनेता प्राय 'मेरे भैया' इन शब्दो को एक धुन के रूप मे बार-बार दुहराता है। महाराष्ट्र के 'तमाशा' नाट्य मे गान-मण्डली 'जी जी जी' इस शब्द की धुन की इतने ऊर्ध्व स्वर मे पुनरुक्ति करते है कि उसमे और उनके एकतारे के स्वर मे कोई अन्तर नही जान पडता है।

आचलिक नाट्यो मे गीतो के छन्द लय और गति के अनुसार उन्हे तीन वर्गो मे बाँटा जा सकता है—भक्तिगान वा वैष्णवगान, जैसे बगाल की जात्रा के कीर्त्तन, वीरगान, जैसे महाराष्ट्र का पवाडा (जो बिहार के पवाडे से मिलता जुलता है) और शृगारमूलक गान, जैसे राजस्थान की लावनी। तीनो प्रकार के गीतो मे उनके भावना के अनुकूल छन्दो और शब्दालकारो का प्रयोग होता है। वैष्णव-नाट्यकारो ने, जिनमे असम के सन्त और ब्रज की रासलीलाओ के रचयिता भक्त प्रमुख है, वर्णो के ध्वनि-प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया।

नृत्य के प्रयोग .

गान के इस पक्ष का नाट्य के नृत्य से विशेष सम्बन्ध है। परम्पराशील नाट्य मे नृत्य का प्रयोग प्राय तीन परिस्थितियो मे किया जाता है—(१) किसी प्रसग या दृश्य को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए या यो ही प्रेक्षको के सामने एक चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करने के लिए, (२) कथनोपकथन के किसी अश को प्रदीप्त करने के लिए, जिसमे नृत्य को या तो सवाद मे गूँथा जाता है या कथन के बाद उसका विस्तार करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है और (३) पात्रो के प्रथम प्रवेश पर उनके शील का परिचय देने के लिए।

भारतवर्ष के विभिन्न आचलिक नाट्यो मे मैने दृश्य-नृत्य, कथन-नृत्य और प्रवेश-नृत्य, इन तीन विधाओ को किसी-न-किसी रूप मे प्रस्तुत किये जाते देखा है। यह तो मै नही कह सकता कि कला की दृष्टि से सभी रग-प्रणालियो के नृत्य मनोरम है।

पजाब और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के साँग और सागीत तथा नौटकी के नृत्य मुझे कला की दृष्टि से अत्यन्त हीन जँचे। रासलीला के नृत्य भी इस नाट्य-परम्परा के साहित्यिक पक्ष की उत्कृष्टता को देखते हुए चलताऊ जान पडे। नृत्य की परम्परा तो दक्षिण और पूर्वोत्तर प्रदेशो मे सर्वाधिक शास्त्रसम्मत और चमत्कारपूर्ण जान पडती है।

दृश्य-नर्त्तन की ग्राम-सुलभ बानगी पूर्णिया जिले के 'बिदापत नाच' नामक नाट्य-शैली मे भी मिलती है, यद्यपि उसकी महत्ता किसी प्रकार के कलात्मक सौन्दर्य मे नही, अपितु नाट्य मे है, नर्त्तन के दृश्य-पक्ष की स्थापना करने मे है। 'बिदापत नाच' के पारिजातहरण-लीला के प्रारम्भ मे पहले रास होता है। सूत्रधार से विदूषक पूछता है कि पारिजात-लीला तो कृष्ण के द्वारका-काल की कथा है, उसमे रास कैसे? सूत्रधार उत्तर देता है कि हरेक नाट्य से पहले भगवान् की नृत्यलीला होनी जरूरी है। जैसे मैने अन्यत्र कहा है, दृश्य-नृत्य, किसी प्रसग-विशेष के भाव को और भी सजीव और सारगर्भित रूप मे प्रकट करने के लिए भी किये जाते है। केरल मे ईसाइयो के चविट्टु नाटकम् मे क्रुसेडो के जमाने मे ईसाई वीरो और मुसलमान-विजेताओ के द्वन्द्वयुद्ध दिखाये जाते है। जब सलादीन और चार्लमैन की सेनाओ की मुठभेड होती है, तब नट अपने पदाघातो के क्रम से युद्ध का वातावरण उपस्थित कर देते है। वस्तुत, युद्धदृश्यो का प्रदर्शन प्राय सभी आचलिक नाट्य मे नृत्य की तालो और मुद्राओ द्वारा ही होता है।

कथन-नृत्य परम्पराशील नाट्य की रीढ है और उनका आधार है भरत के नाट्य-शास्त्र के चतुर्थ अध्याय मे दिये गये निर्देश। नाट्यशास्त्र मे हस्तमुद्राओ को करण कहा गया है और प्रत्येक करण एक-न-एक बिम्ब का परिचायक है। करणो के समुदायो को 'अगहार' की संज्ञा दी गई है, जिनकी सख्या ३२ है। मुखमुद्राओ को अभिनय कहा गया है। नृत्य का चौथा अग या आधार है ताल। इन चारो अगो का उपयोग कुछ ऐसे ही होता है, जैसे वाक्यो मे शब्दो, पदो इत्यादि का और वाक्यो की भाँति नृत्य अर्थ के वाहक है। कथन-नृत्य का सबसे सार्थक और सश्लिष्ट उपयोग आन्ध्रप्रदेश के कुचुपुडि नाट्य मे देखा गया है। उसके भामाकलापम् मे एक ही प्रसग और एक ही रस की निष्पत्ति मुख्यत नृत्य के द्वारा होती है, कुछ ऐसे ही, जैसे फिल्म मे 'क्लोज-अप' के द्वारा भावो की परिस्थितियो को दिखाया जा सकता है। कथन-नृत्य मे कभी पदक्षेप की क्षिप्र अथवा मन्थर गति से भी कथन की पुष्टि की जाती है। गुजरात की भवई मे रँगीला-रँगीली इसी प्रकार का नर्त्तन करते है, जो कत्थक से थोडा बहुत मिलता-जुलता है।

प्रवेश-नृत्य का एक उल्लेखनीय उदाहरण है कश्मीर के 'भॉडजशन' का नृत्य। बादशाह रंगशाला मे आता है, उसके पीछे-पीछे उसके दरबारी, एक जमीन्दार, सेनापति, सिपाही इत्यादि। हरेक पात्र की गति और चलने की भगिमा उसके चरित्र को व्यक्त करते है। उनकी हस्तमुद्राओ मे कुछ शास्त्रीय करणो के चिह्न भी दीख पडते है। प्रवेश करने के बाद पात्र जोडियो मे दोनो तरफ घूम जाते है, प्रत्येक के हाथ मे कपडा होता है, जिसे 'पल्लव' कहते है। उसके बाद सब पात्र वृत्त बनाकर खड़े हो जाते है।

भॉडजशन की अपेक्षा कूटियाट्टम् और असम के अकिया नाट मे प्रवेश-नृत्य कही अधिक सश्लिष्ट और कलापूर्ण होते है। दोनो मे ही पात्रो का यह प्रयास रहता है कि वे अपनी गति और भगिमा द्वारा अपनी स्वभावगत विशेषताओ को प्रेक्षक तक पहुँचा दे। **रुक्मिणीहरण** नाट मे कृष्ण और रुक्मिणी सग-सग प्रवेश करते समय जो नृत्य करते है, उसमे करणो और मुद्राओ द्वारा श्रीकृष्ण के प्रारम्भिक जीवन, गोकुल मे उनके पराक्रम इत्यादि की गाथाओ का प्रत्यक्षीकरण होता है। उसी नाटक मे जब रुक्मिणी के माता-पिता प्रवेश करते है, उनकी गम्भीर गति मे उनके वय और गाम्भीर्य की सूचना मिलती है, थोडी देर बाद उनका उद्धत पुत्र रुक्म प्रवेश करता है, तो उसके प्रवेश-नृत्य की ताल तीव्र और उसका पदाघात तेज और कठोर होता है। नृत्य स्वभाव को सहज ही प्रकट कर देता है, वाणी के पहले ही।

कुछ नाट्यो मे प्रवेश-नृत्यो को जानबूझकर विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जाता है और जैसे **रुक्मिणीहरण** मे प्रवेश-नृत्य मे कृष्ण के पूर्वचरित का चित्रण किया गया है। ऐसे ही लगभग हर पात्र के पूर्वचरित और स्वभाव को नृत्य द्वारा ब्योरे के साथ चित्रित किया जाता है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इस तरह के नाट्य मे सवाद की महत्ता कम हो गई। कथानक का स्पष्टीकरण भी जरूरी नही रह गया। रगप्रदर्शन का मुख्य उद्देश्य रह गया अभिनय, ताल और पदक्षेप के माध्यम से नायको के चरित-प्रसगो और शील का निरूपण और गायक-मण्डली द्वारा तद्विषयक गान। इन नृत्याभिनयो मे नृत्य ही प्रश्नोत्तर का रूप लेते है और प्राय दो नर्त्तको मे बलप्रदर्शन, स्पर्द्धा का उत्कर्ष, एक दूसरे के लिए अपशब्द ये सभी नृत्यमाला के रूप मे प्रस्तुत किये जाते है। आजकल जिस कथकली नृत्य की इतनी चर्चा है, वह वस्तुत सम्पूर्ण नाट्यो के प्रवेश-नृत्यो की शृखला-मात्र है।

कथकली और आजकल जिसे भरत-नाट्य कहा जाता है, तथा कत्थक नृत्य इन तीनो के वर्त्तमान रूप कितने ही सुन्दर और कलापूर्ण हो, पर है तो आखिर खण्ड-मात्र ही। उनका वास्तविक स्वरूप नाट्य मे ही प्रत्यक्ष हो सकता है, क्योकि परम्पराशील नृत्य, वस्तुत परम्पराशील नाट्य का ही अग है, इससे पृथक् उसकी सत्ता समीचीन नही कही जा सकती।

रस-निरूपण और सम्प्रेषण-पद्धति :

भाषानाटक कई प्रकार के प्रेक्षको को लक्ष्य करके रचे गये। सहृदय कलामर्मज्ञ और रुचिसम्पन्न दर्शको का मनोरजन और रसप्लावन के लिए शास्त्रसम्मत भावानुभाव-प्रदर्शन और रसप्रेरक स्थितियो की योजना की गई। दूसरे प्रकार के प्रेक्षक थे वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुगामी भक्तजन, जिनकी प्रवृत्ति भगवद्-रति की ओर उन्मुख थी और नाटककार का उद्देश्य था उनकी वृत्तियो को सचेत करके रसानुभूति के माध्यम से उनकी भगवद्भक्ति को पुष्ट करना। स्थूल शृगार के प्रदर्शन को आध्यात्मिक रसानुभूति का माध्यम बनाना। यह वैष्णव नाटककारो का अद्भुत और अभूतपूर्व प्रयास था और उनकी अनुपम उपलब्धि भी। यह कैसे हो पाया ?

भरत के अनुसार नाट्य-रस की विशेषता यह है कि उसमे भाव को नाना प्रकार के अभिनय से सम्बद्ध करके रस की अभिव्यक्ति वैसे ही की जाती है, जैसे नाना प्रकार के

भोजन-पदार्थों को मिलाकर व्यजन पैदा किये जाते है। जिस तरह व्यजनो से स्वाद का आनन्द मिलता है, उसी भाँति अभिनय-समन्वित भावो से रसास्वादन का आनन्द प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र के अध्याय ६ के श्लोक, सख्या ३३, ३४ और ३५ मे अभिनय से सम्बद्ध भावाभिव्यक्ति द्वारा रस की निष्पत्ति विचारणीय है। 'भावाभिनयसम्बन्धात्', 'भावयन्ति, रसाभिनयै सह'—इन पदो मे अभिनय और भाव के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध पर बल दिया गया है। नाट्य-रस का सचार भाव और अभिनय के समन्वय से सम्भव है, अन्यथा नही।

परवर्त्ती लक्षणकार और रससिद्धान्त के अधिकतर आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट भाव और अभिनय के समन्वय से दूर हट गये। उन्होने काव्य-रस के आस्वादन को आत्मानन्द अथवा आध्यात्मिक तल्लीनता के समान माना। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार[1] आत्मवादी मत के पोषक इन विद्वानो की दृष्टि मे काव्यानन्द उसी भाँति निर्विशिष्ट होता है, जैसे ब्रह्मानन्द, यानी उसमे आस्वादन की विविधता, हर्ष, भय, रति इत्यादि विभिन्न भावो की पृथक्-पृथक् अनुभूति के स्थान पर एक निर्विशिष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है। यह निर्विशिष्ट आनन्द ही रस का चिन्मय अग है, जिसका रसानन्द मे प्राधान्य होता है और जिसकी अपेक्षा उसमे मृण्मय अंश कम होता है। मेरा अनुमान है कि इस आत्मवादी मत मे वैविध्य के परिहार पर जो जोर दिया गया है, उसका तात्पर्य भावो की विविधता के एकीकरण से नही होना चाहिए था, वरन् प्रेक्षक के व्यक्तिगत इन्द्रियबोध के लोप से। नाट्य मे जिन भावो का सम्प्रेषण किया जाता है, प्रेक्षक के मानस मे उनका उदय और उत्कर्ष उसकी अपनी इन्द्रियो की प्रक्रियाओ द्वारा नही होता। वस्तुत, कवि द्वारा प्रस्तुत शब्द-सौन्दर्य एव नट द्वारा प्रस्तुत अभिनय-कला दोनो मिलकर ही उसे रति इत्यादि भावो की चरम अनुभूति करा देते है। चूँकि अपनी निजी इन्द्रियो के साधन के बिना प्रेक्षक को भावोल्लास की प्राप्ति होती है, इसलिए उसके व्यक्तित्व की पृथक् सत्ता का बोध प्रेक्षागृह मे उसे नही रहता। सभी प्रेक्षक मानो एक सामान्य मानसिक वातावरण मे रम जाते है। इसे ही साधारणीकरण कहा जाता है। विविधता के परिहार से यही तात्पर्य है कि प्रेक्षको की विविध अनुभूतिशील सत्ताएँ एक साधारणीकृत भावबोध मे समा जायँ। यही रसानन्द की निर्विशिष्टता है।

लेकिन, इसका आशय यह नही है कि जिन विभिन्न भावो को कवि और नट प्रेक्षक तक पहुँचाते है, उनकी अपनी विशेषताएँ ही रसानन्द की घडी मे गायब हो जाती है। आत्मवादी पण्डितो ने हर्षादि आठो भावो की चरम अनुभूति को एक ही प्रकार का 'आनन्द' माना। भरत के शब्द 'हर्षादि' मे उन्होने 'आदि' की अवहेलना कर रति, भय, जुगुप्सा इत्यादि भावो की विशिष्टता को भुलाकर 'हर्ष' को आध्यात्मिक तल्लीनता अथवा चिदानन्द का लगभग पर्याय ही मान लिया। उन्होने रसानन्द के चिन्मय अश की प्रधानता का अर्थ लगाया—भावो की विविधता का लोप। यह भ्रम था। रस की चिन्मयता के माने है प्रेक्षक की अनुभूति मे उसकी इन्द्रियजन्य प्रक्रिया का अभाव। व्यक्तिगत इन्द्रियबोध न होने के कारण ही व्यक्ति (प्रेक्षक) की सत्ता प्रेक्षागृह के सामान्य अथवा साधारणीकृत

१. डॉ० नगेन्द्र : रससिद्धान्त, पृ० ११३।

बोध मे समाविष्ट हो जाती है। पर, प्रत्येक भाव की विशिष्टता बराबर रहती है। यह विशिष्टता कवि और नट की कला के सामजस्य की देन है। वस्तुत, दृश्यकाव्य मे स्थूलता और विविधता बराबर रहती है। अभिनय द्वारा भावो की अभिव्यक्ति करते समय नट अपने अगो और कतिपय इन्द्रियो के सचालन से विभाव, अनुभाव, सचारी इत्यादि का नियोजन करता है। वाणी और स्वर, मुद्रा और अगप्रक्षेप ये सभी अर्थ-विशेष और भाव-विशेष को अभिव्यक्त करने के लिए तदनुकूल प्रस्तुत किये जाते है। प्रेक्षक के हृदय मे जो उद्वेग इसके परिणामस्वरूप उदग होता है, वह भी उसी भाव-विशेष का परित्रायक होता है। आत्मवादी रस-पण्डितो का अभिनय-कला से व्यावहारिक सम्पर्क कम होने के कारण नाट्य के स्थूल और विविध उपकरणो की महत्ता को उन्होने नही समझा। अत, भरत द्वारा निर्दिष्ट रसानन्द की इस कलात्मक आधारशिला की उन्होने उपेक्षा की और उसे आध्यात्मिक उपलब्धि का रूप देने लगे।

नाट्य-रस अपने मे आध्यात्मिक उपलब्धि नही है, किन्तु मध्ययुग के उन सन्त और वैष्णव नाटककारो ने, जिनकीशैलियाँ वर्त्तमान परम्पराशील नाट्य का बहुत बडा अग है, उसे आध्यात्मिक सन्देश का साधन बनाया। नाट्यानन्द अथवा नाट्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया और उसके प्रभावस्वरूप प्रेक्षागृह मे भावलोक के साधारणीकरण का उन्होने अद्भुत उपयोग किया और यो नाटक को आध्यात्मिक प्रेरणा का माध्यम बनाने की एक ऐसी पद्धति कायम की, जिसकी आत्मवादी रसपण्डितो ने भी कल्पना नही की थी। उन्होने देखा कि नाटक के प्रदर्शन मे कवि के शब्दसौष्ठव एव नट के अभिनय-कौशल से जो रस-प्रवाह होता है, वह प्रेक्षक के मानस मे एक ही साथ दो तरह की स्थिति उत्पन्न कर देता है: एक तो कला के स्थूल सौन्दर्य से स्फुरित चेतना, और दूसरी (साधारणीकरण के परिणामस्वरूप) अह की विलुप्ति।

"यह विलक्षण मनःस्थिति, जिसमे एक ओर तो भौतिक अनुभूति सजगता की चरमावस्था पर होती है और दूसरी ओर प्रेक्षक का अह—अपनी पृथक्ता का बोध, एक साधारणीकृत अनुभूति मे थोडे समय के लिए विलय हो जाता है, अध्यात्म के बीजारोपण के लिए उर्वरा भूमि होती है। मध्ययुगीन सन्तो ने रस-प्रक्रिया की इस उपलब्धि से फायदा उठाया। उन्होने नाट्य-रस के फलस्वरूप अह के अस्थायी लोप या 'सस्पेन्शन' को भक्ति-प्रेरणा, आध्यात्मिक विलास और अलौकिक भगवत्स्वरूप के दर्शन के लिए एक 'बेस' यानी भूमिका माना। रसानुभूति को इस भूमिका से ऊपर उठाकर प्रेक्षक की भगवद्रति मे प्रेरणा ही वह 'ब्रह्मानन्द'-सहोदर अनुभूति है, जिसे कुछ विद्वानो ने भक्तिरस की सज्ञा दी है। 'भक्तिरस' एक अलग रस है या नही, इसपर काफी चर्चा हुई है और विद्वानो मे इस विषय पर मतभेद है। जहाँतक नाट्य का सम्बन्ध है, हमारे विचार मे भक्तिरस एक पृथक् नाट्यरस नही है। वह तो विभिन्न रसो के परिपाक के फलस्वरूप सजग उस मानसिक स्थिति का भगवदुन्मुख होना है, जिसमे अह के लोप का आभास होता है। शृंगार, वीर, करुण इत्यादि रसो का आस्वादन भगवदुन्मुखता के लिए भूमिका है, सोपान है,

परिणति नही। सन्त नाटककारो ने रसास्वादन को साधन माना, साध्य नही। उनका साध्य उसके बाद आता है। इसलिए जिस 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' की इतनी चर्चा होती रही है, वह वस्तुत रसानुभूति के उपरान्त भगवदुन्मुखी तन्मय स्थिति है।"[१]

परम्पराशील नाट्य की भक्तिप्रधान शैलियाँ (रासलीला, भागवतमेल, अकियानाट, इत्यादि) इसी भगवदुन्मुखी लवलीनता को लक्ष्य मानकर प्रेक्षक को रसनिमग्न करती है। इसलिए, प्रत्येक स्थल पर किसी-न-किसी भाव को बार-बार दुहराकर, शब्दालकारो, मुद्राओ, गान, नृत्य इत्यादि उपकरणो से प्रदीप्त कर प्रेक्षक को भावविह्वल किया जाता है। आधुनिक दृष्टि से जो गीतमय सवाद हमे अतिशयोक्तिपूर्ण और पुनरुक्तियो से दूषित जान पडता है, वह वैष्णव और सन्त-नाटककारो की दृष्टि मे एक अनिवार्य साधन है। राधाकृष्ण की उद्दाम शृगारलीला, हिरण्यकशिपु का प्रचण्ड रोष, कृष्ण के कालियह्लद मे कूद जाने पर यशोदा का विलाप—ये सभी प्रेक्षक को उस मनोदशा मे ले जाने के तरीके है, जहाँ एक ओर तो वह कलात्मक सौन्दर्य से झूमने लगता है और दूसरी ओर अपने अह को भूल जाता है। ऐसी स्थिति पैदा कर लेने पर भक्त नाटककार झट से भगवान् का गुणानुवाद और भगवद्भक्ति की महिमा का—(प्राय सूत्रधार अथवा समाजी के मुख से, अथवा अन्य किसी पात्र के मुख से)—बखान करवाता है। उस मन स्थिति मे प्रेक्षक उस सन्देश को सहज ही ग्रहण कर पाता है, जैसे वर्षा से गीली की गई धरती मे बीज डालने से प्रस्फुटन आसानी से हो जाता है।

भक्त नाटककारों ने रसनिरूपण को एक तरह की सम्प्रेषण-पद्धति (कम्यूनिकेशन प्रोसेस) बनाकर अपने सन्देश को प्रेक्षको तक पहुँचाया। नाट्य द्वारा शिक्षा प्रदान का यह एक अनूठा प्रयोग था, अनूठा इसलिए कि सन्देश देने की प्रक्रिया काव्य-गुण के उत्कर्ष के विपरीत नही थी। शुष्क सन्देश और उद्बोधन का ताँता लगाकर रति, शौर्य, हास्य इत्यादि के प्रवाह को अवरुद्ध नही किया गया, वरन् भावोदधि के भीषण उद्वेलन और मन्थन द्वारा ही भक्ति और ज्ञान का अमृत प्रस्तुत किया गया।

भक्त नाटककारो की इस सम्प्रेषण-पद्धति का प्रभाव अन्य परम्पराशील नाट्यविधाओ पर भी पडा। इस पद्धति के सन्दर्भ मे परम्पराशील नाट्य मे चरम भावुकता और घोर रसप्लावन के बीच उपदेशो और स्तुतियो के द्वीपो की स्थिति इतनी अस्वाभाविक नही लगती, जितनी प्राय समझी जाती है।

---

१. यह उद्धरण मैने अपने 'भाषानाटक-सग्रह' की भूमिका से लिया है। देखिए : 'प्राचीन भाषानाटक सग्रह' स० श्रीजगदीशचन्द्र माथुर और डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी-विद्यापीठ, आगरा-विश्वविद्यालय।

रंग-व्यवस्था

रंगशालाओं की स्थिति :

परम्पराशील नाट्य की रगस्थली के विवरण मे सबसे पहले मन्दिर और देवस्थान का उल्लेख अपेक्षणीय है। मन्दिर भारतीय समाज मे केवल पूजन का केन्द्र नही रहा है, वल्कि सामुदायिक जीवन, मनोरजन तथा कला-सौन्दर्य का भी। मन्दिर मे कलाओ की अभिव्यक्ति द्वारा रसनिमज्जित भक्त-हृदय धर्म और नीति के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अधिक सजग और सचेत हो जाता है।

जिस भाँति प्राचीन मन्दिरो की बाहरी भित्तियो तथा प्रकारम् पर तो अनेक प्रकार की मूर्त्तियाँ और चित्र अकित रहते थे, किन्तु भगवान् की मूर्त्तिवाले गर्भगृह मे नितान्त सादगी और अलकरण-विहीनता होती थी, उसी प्रकार मन्दिर के बाहरी हिस्से मे नट-मन्दिर मे तो नाट्य और सगीत के विविध स्वर झकृत होते रहते थे, जब कि गर्भगृह के निकट मन्त्रोच्चार और आरती का ही निर्घोष सुन पडता था। इसी दर्शन के आधार पर मन्दिरो मे रगशाला का निर्माण हुआ। धारवाड मे मुगुड नामक स्थान मे एक मन्दिर मे सन् १०४५ ई० का एक शिलालेख है, जिसमे श्रीमान् महासामन्त मार्तण्ड्य्या द्वारा नाट्यशाला बनाये जाने का उल्लेख है। ग्यारहवी सदी से उन्नीसवी सदी तक बराबर दक्षिण भारत के मन्दिरो मे नट-मण्डप बनाने की परम्परा रही। जयदेव के गीतगोविन्द के प्रदर्शन की परम्परा ने मन्दिरो और रगशाला का यह नाता स्थायी कर दिया। श्रीमद्भागवत से प्रसगो को नृत्य-नाट्य मे प्रस्तुत करना मन्दिर की कार्यप्रणाली का अभिन्न अग बन गया।

आजकल नाट्य-प्रदर्शन के लिए रगशालाएँ विशेषत केरल मे त्रिचूर के मन्दिरो मे 'कूथाम्बलम्' के नाम से विख्यात है। असम के मठो मे रगशाला का नाम 'भाओनाघर' अथवा 'रभा' होता है। कूथाम्बलो की परम्परा कुलशेखरवर्मन् द्वारा दसवी शताब्दी मे प्रारम्भ की गई। कूथाम्बलम् लकडी अथवा पत्थर के बने मण्डप होते है और प्राय लकडी, बॉस, खर इत्यादि से बनाये जाते है। ब्रजक्षेत्र मे रासलीलाओ के लिए भी मन्दिरो के निकट छोटे रासमण्डप बनाने की प्रथा वर्षो से रही है और वृन्दावन मे स्थान-स्थान पर इस तरह मण्डप बने हुए है। बरसाना और नन्दगॉव मे गर्भगृह के सामने ही मण्डप मे कभी-कभी लीलाओ का अभिनय होता था। तजौर के निकट मेलात्तूर गॉव मे नृसिह-मन्दिर के सामने जो गली है, वही पर रगशाला प्रति वर्ष बनाई जाती है। बगाल मे जात्रा का प्रदर्शन प्राय. मन्दिरो के ही अहाते मे होता है। गुजरात की भवई के कुछ प्रदर्शन आबू के निकट अम्बाजी के मन्दिर मे किये जाते थे। इसी भाँति हिमालय के करियाला-नाट्य की व्यवस्था कभी-कभी स्थानीय लोक-देवता (जिन्हे 'बलराज' अथवा 'बिज्जू देवता' कहा जाता है) के मन्दिर के निकट खेला जाता है।

मन्दिरो की रगशालाओ मे यह आवश्यक नही है कि केवल धार्मिक या साम्प्रदायिक नाट्यो का ही अभिनय हो। किन्तु, प्राय. यह अनिवार्य होता है कि नाट्योत्सव के पहले

ग्रौर वाद मे जिस देवता के मन्दिर के पास ग्रभिनय हो रहा है, उसके पूजन की विशेष व्यवस्था हो। प्राय मूर्त्ति को शोभायात्रा के साथ नाट्योत्सव के पहले बाहर लाया जाता है ग्रौर उसके सम्मुख ही प्रदर्शन होता है। केरल ग्रौर ग्रसम मे ही विशेषत मन्दिरो का सीधा उत्तरदायित्व इन नाट्यो के प्रदर्शन के विषय मे होता है। अन्यत्र मन्दिरो से विशेप सरक्षण प्राप्त नही होता ग्रौर नाट्योत्सव का ग्रायोजन करनेवालो को धन इत्यादि की व्यवस्था करनी पडती है।

मन्दिरो के बाद ग्रामीण मेलो ग्रौर उत्सवो के ग्रवसर पर प्राय ग्राचलिक नाट्य ग्रभिनीत होते है। बिहार के सोनपुर मेले मे तो बहुत पुराने जमाने से परम्पराशील नाटक प्रस्तुत करने की प्रथा रही है। प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ ग्रौर इतिहासकार श्री ग्रो० सी० गागुली का कथन है कि भगवान् बुद्ध के समय मे भी मगध के मेलो मे नाट्य-प्रदर्शन होता था। यहाँतक कि एक मण्डली ने ग्रानन्द से भगवान् बुद्ध के जीवन पर ग्राधारित नाटक-प्रदर्शन करने की ग्रनुमति माँगने की भी धृष्टता की थी।

शामियानो तथा तम्बुग्रो मे मेलो के ग्रवसर पर रगशाला बनाने की प्रथा महाराष्ट्र मे रही है ग्रौर दिल्ली मे निजामुद्दीन के उर्स पर भी इस प्रकार के प्रदर्शन देखे गये है।

मेलो के ग्रतिरिक्त विवाहोत्सव, पुत्रजन्म तथा इसी प्रकार के पारिवारिक प्रयोजनो के लिए भी पारम्परिक नाट्यो का प्रदर्शन होता रहा है। उत्तरप्रदेश ग्रौर पूर्वी पजाब मे साँग ग्रौर सगीत सरक्षको के घरो के सामने तथा बरामदो मे दिखाये जाते है। ब्रज की रासलीला-मण्डलियो को तो दूर-दूर तक विवाह तथा ग्रन्य प्रकार के उत्सवो के लिए ठेके मिलते है। बीस वर्ष पहले तक रासलीला-मण्डलियाँ रगून मे भी लीला-प्रदर्शन के लिए जाया करती थी। विदेसिया तथा भोजपुर-क्षेत्र की ग्रनेक मण्डलियो की ग्रामदनी हावडा के ग्रासपास प्रदर्शन से ही होती है। इन ठेको पर काम करनेवाली मण्डलियो के लिए थियेटर-हॉल नही होते। मुझे केवल दो ही थियेटर-भवन का ज्ञान है, जिन्हे परम्पराशील नाट्य-मण्डलियो के लिए उपलब्ध किया जाता है। पूना मे एक मुसलमान सज्जन ग्रब्दुल जम्बा महाराष्ट्र की तमाशा-मण्डलियो के लिए एक रग-भवन रखे हुए है। वर्षाकाल मे जब तमाशा-मण्डलियाँ विभिन्न नगरो मे जाकर खेल नही दिखा सकती, तब ग्रब्दुल जम्बा के रगभवन मे ही एक के बाद एक तमाशो के प्रदर्शन होते है। दूसरा ऐसा भवन मद्रास नगर के बाहर एक उपनगर मे है, जहाँ मैने 'मदुरा बॉयज' नामक एक पुरानी मण्डली द्वारा प्रस्तुत पौराणिक नाटक देखा। तमिलनाडु की ये मण्डलियाँ परम्परागत ग्राचलिक नाट्य से कुछ भिन्न पारसी थियेटर-परम्परा मे ग्रपने खेल दिखाती हे।

परम्पराशील रगशाला की एक सामान्य विशेषता यह है कि प्राय. बैक-ग्राउण्ड ग्रौर सीनरी इन रगशालाग्रो मे होते ही नही। सम्भव है, यदि मध्ययुग मे राज्य का सरक्षण प्राप्त होता, तो यहाँ भी यूरोप की तरह सीन-सीनरीवाली रगशाला विकसित हो जाती। किन्तु, इस तरह की भव्यता के साधनो के ग्रभाव में परम्पराशील नाट्य मे दो प्रकार का ग्रान्तरिक सौन्दर्य विकसित हुग्रा। एक तो यह कि साधारण-से-साधारण नाट्य मे भी शब्द-सौन्दर्य ग्रौर ग्रर्थ-चमत्कार पर जोर डाला गया ग्रौर इस तरह परम्पराशील नाट्य

परवर्त्ती भडकीले नाट्य की अपेक्षा अधिक काव्यात्मक रहे। दूसरे, सादे बैक-ग्राउण्ड के कारण वेश-भूषा मे बहुरगी चमत्कार प्रस्तुत किया जाने लगा और गीत और नृत्य द्वारा द्रष्टव्य को आकर्षक बनाने की चेष्टा होती रही।

रंगशालाओं के प्रकार और अंग :

परम्पराशील नाट्य के प्रेक्षक प्राय खुले स्थानों मे बैठते है, अथवा ऐसे मण्डपो मे, जो चारो तरफ से बन्द नही होते। भरत द्वारा निर्दिष्ट नाट्य-मण्डप का कोई उदाहरण न रहने के कारण हम इन परम्पराशील नाट्यो के प्रदर्शन से ही प्राचीन वातावरण का कुछ अनुमान कर सकते है। उत्तर कर्नाटक मे यक्षगान की एक शैली का नाम है 'बयलाट'। बयालु का अर्थ है खुला हुआ स्थान और आट के मानी है खेल अथवा लीला। कश्मीर और हिमाचल मे शीत होते हुए भी प्राय नाट्य-प्रदर्शन खुले मे ही होते है। किन्तु, हिमाचल के 'करियाला' मे प्राय दर्शको के निकट अग्नि जलाकर रखी जाती है और वही मृदग और ढोल बजानेवाले बैठकर अपने साजो को ठीक करते रहते है।

अन्यत्र असम के रभा तथा भाओनाघर का उल्लेख हुआ है। शायद भाओनाघर सबसे अधिक विधिवत् निर्मित रगशाला है। लगभग सौ गज लम्बे और २० गज चौडे इस मण्डप की छत दुहरी होती है, स्तम्भ लकडी के होते है। छत के भीतरी भाग को कपडे से ढका जाता है। मण्डप की भूमि कच्ची, किन्तु अच्छी तरह पुती हुई होती है। स्तम्भो को पाँच फुट की ऊँचाई तक कपडो से अलकृत किया जाता है।

मण्डप के एक ओर कुछ ऊँचाई पर थापना, यानी वह स्थान होता है, जहाँ भागवत ग्रन्थ रखा रहता है। दूसरी ओर गायन-वायन, यानी गायको और वाद्यकारो की मण्डली बैठती है। बीच मे ४० गज की आयताकार भूमि को रगस्थली कहा जाता है, जिसके दो ओर दर्शक बैठते है। अभिनेतागण उस तरफ से प्रवेश करते है, जिधर गायन-बायन-मण्डली बैठती है। रगस्थली के ऊपर एक चन्दोवा तना रहता है। नाटक मे विभिन्न स्थानो को दिखाने के लिए रगस्थली के दोनो ओर छोटी-छोटी चौकियाँ रखी रहती है। उदाहरणत., एक चौकी द्वारकापुरी की, दूसरी कुण्डनपुर की, तीसरी मथुरा की इत्यादि। जब दूत कुण्डनपुर से द्वारका जाता है, तब एक चौकी से दूसरी चौकी तक यात्रा इस भाँति करता है, मानो कोसो का सफर कर रहा हो। भाओनाघर की रगस्थली की यह पद्धति यूरोप मे मध्ययुग मे जो साम्प्रदायिक चर्च नाटक खेले जाते थे, उनकी रगस्थली की शैली के समान है। इसका विवरण **एलर्डाइस निकल** ने अपने ग्रन्थ **वर्ल्ड ड्रामा** मे किया है और उसमे दिये गये चित्र से असम के भाओनाघर की रगस्थली बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

तमिलनाडु मे मेलात्तूर की रगशाला मे गली को लगभग सौ गज तक नारियल के छप्पर से ढक दिया जाता है। हिमाचल मे दो पहाडियो के बीच खुले हुए स्थान को अखाड़ा बनाया जाता है और वही अग्नि जलाकर अभिनय होता है। दर्शक तीन ओर बैठते है और बीच मे नटो के आने-जाने के लिए एक वीथि छोड़ी जाती है। हिमाचल के अखाड़ा

की भाँति ही पूर्णिया जिले के 'बिदापत नाच' मे अभिनय के स्थान को रंगस्थली कहा जाता है। जात्रा मे मच थोडा ऊँचा होता है और उसके चारो ओर दर्शक बैठते है।

उत्तरप्रदेश और दिल्ली मे रामलीला का जो प्रदर्शन होता है, उसकी रगस्थली कही अधिक विशाल होती है, चूँकि प्रेक्षको की सख्या भी उसी अनुपात मे अधिक होती है। उत्तरप्रदेश मे रामलीला के लिए लगभग पाँच सौ गज की आयताकार भूमि के चारो ओर खेमे लगा दिये जाते है, इसे बाडा कहते है। बाडे के अन्दर चित्रकूट, लका, पचवटी इत्यादि के लिए अलग-अलग स्थान नियत होते है। इस तरह नाट्य-गति और व्यापार का एक विविध और प्रभावकारी चित्र प्रेक्षक के सामने आ जाता है। दिल्ली की परम्पराशील रामलीला मे ६ फुट से कुछ ऊँचा मच बनाया जाता है। मच लगभग सौ गज लम्बे और तीस गज चौडे पथ के रूप मे होता है। बल्लियो पर तख्ते बाँधकर इसका निर्माण किया जाता है। एक सिरे पर लका और दूसरे सिरे पर चित्रकूट। प्रेक्षक लम्बाई के दोनो ओर खडे या बैठे रहते है।

रामलीला की विशाल रगस्थली के मुकाबिले मालवा और राजस्थान की माँच-शैली की भव्यता का आधार है एक ही मच पर अनेक स्तरो का प्रदर्शन। माँच सस्कृत के मच का अपभ्रश है। इसके लिए करीब १०-१२ फुट ऊँचा मच तैयार किया जाता है। **जॉन मैलकम** ने उन्नीसवी सदी मे माँच के जो प्रदर्शन उज्जैन के पास देखे, उसमे उन्होने 'तीन-खन का खेल' नामक माँच का उल्लेख किया है। चौमुहाने पर एक तिमजिला मच खडा किया गया था। सबसे नीचे की मजिल पर घर के भीतरी कक्ष मे चौपड खेलने का अभिनय दिखाया जा रहा था। बीचवाली मजिल पर एक नृत्य हो रहा था और सबसे ऊपर गजफा के खेल दिखाये जा रहे थे। यद्यपि आजकल माँच मे इस तरह की तीन मजिलें नही दिखाई जाती है, तथापि मच काफी विशाल होता है और उसके ऊपर विविध रग के चँदोवे ताने जाते है। राजस्थान मे माँच से मिलता-जुलता 'तुर्रा किलिगी' नामक एक नाट्य होता है, जिसके लिए ऐसा मच बनाया जाता है, जिसके दो तरफ ऊँचे महल और बीच मे खुला युद्धस्थल होता है। दो स्तर के इस भाँति के मच बनाने की शैली उत्तर भारत के अनेक नाट्यो मे पाई जाती है। नौटंकी और सगीत के मच में भी चारो तरफ एक नीचे स्तर का मच होता है, जो ऐसे दृश्यो मे विशेष काम आता है, जहाँ गायक गली से मकान पर कमन्द फेककर चढ जाता है।

किसी भी परम्पराशील रगशाला मे उस तरह का पर्दा नही होता, जैसा आधुनिक नागरिक रगमंच मे। संस्कृत-रगमच पर यवनिका और पटी को लेकर विद्वानो मे अक्सर चर्चा रही है। यवनिका 'ड्रॉप कर्टेन' के ढग का पर्दा नही होता। उसे तो दो व्यक्ति उस समय लेकर खडे होते हैं, जब किसी प्रधान पात्र या पात्री का प्रथम प्रवेश होनेवाला होता है। पात्र स्वय भी पर्दे को ऊपर के छोर पर पकडे रहता है। प्रवेशगीत गाया जाता है, जिससे दर्शको की उत्सुकता बढ़ जाती है। तब धीरे-धीरे करके पात्र का प्रथम दर्शन होता है। इसी को परम्पराशील रंगशाला मे यवनिका-उत्थापन कहते है। आजकल ब्रज की रासलीला मे लीला प्रारम्भ करने के पहले मुख्य पात्र-पात्री, राधा-कृष्ण

आदि की झाँकियाँ बहुत कुछ इसी प्रकार दिखाई जाती है। किन्तु, रासलीला मे एक पृष्ठभूमि का पर्दा भी टँगा रहता है। इसे 'पिछवई' की सज्ञा दी गई है। असम के अकिया नाट मे जो यवनिका सामने लाई जाती है, उसे आड-कापड कहते है। यहाँ मैं उत्तर बिहार के 'बिदापत नाच' का भी उल्लेख करना चाहूँगा। जिस तरह से यवनिका-उत्थापन के समय असम, केरल एव अन्य स्थानो मे गान और वाद्य-वादन होते है, उसी तरह एक प्रारम्भिक वाद्य-वादन 'बिदापत नाच' मे भी होता है। मजे की बात यह है कि इसे स्थानीय बोली मे 'जमीनिका' कहते है। कहने की आवश्यकता नही कि यह शब्द यवनिका का अपभ्रश है।

स्पष्ट है कि परम्पराशील नाट्य मे पर्दा दर्शको और मच एव पात्रो के बीच व्यवधान नही है। वह या तो किसी प्रधान पात्र का परिचय देने मे व्यवहृत होता है अथवा किसी देवी-देवता की स्तुति के लिए।

रगस्थली पर पात्रो के प्रवेश की पद्धति लगभग सभी आचलिक नाट्यो मे शोभा-यात्रा का स्वरूप लेती है। उत्तरप्रदेश की रामलीला मे तो यह शोभायात्रा ही मुख्य नाटक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई है। किन्तु, पात्र-प्रवेश का सबसे समीचीन तरीका हिमाचल के करियाला तथा कश्मीर के भाँडजशन मे देखा जाता है। करियाला मे पात्र प्रेक्षको के बीच मे होकर जाते है और उनसे परिहास भी करते जाते है।

दर्शको के बैठने के लिए नाट्यशास्त्र मे जो ब्योरेवार निर्देशन दिये गये है, उनका पालन केवल एक आचलिक रगशाला मे हमने देखा। माँच मे रगशाला का दाहिना भाग वयोवृद्ध दर्शको के लिए निश्चित होता है। ठीक सामने चार खम्भे होते है, जिन्हे बाँदी के खम्भे कहते है और जहाँ अफसरो और राजपुरुषो के लिए स्थान नियुक्त होता है। करियाला मे स्त्रियाँ एक तरफ बैठती है और पुरुष दूसरी तरफ। रामलीला मे बाडे के चारो ओर कुछ मचान खडे किये जाते है, जिनपर स्त्रियाँ बैठती है। उडीसा के गजाम जिले मे प्रह्लादनाटक के प्रदर्शन मे दो मण्डलियाँ अभिनय करती है और उन दोनो मण्डलियो के बीच दर्शक बैठते है। इस तरह हम देखते है कि परम्पराशील रगशाला मे भेदभाव बहुत कम है और दर्शको और नटो के बीच एक तरह की आत्मीयता है, जो नागरिक रगशाला के औपचारिक वातावरण मे लुप्त हो गई है।

प्राचीन नाट्यशास्त्र मे 'ग्रीन रूम' के लिए नेपथ्य और सज्जागृह ये दो शब्द प्रयुक्त हुए है। मैने बयलाट यक्ष-गान मे जो सज्जागृह देखा, वह एक तम्बू की तरह का था—मच से लगभग दस गज दूर। उसके कोने मे स्वस्तिका खिची थी, नारियल, चावल इत्यादि रखे थे। स्वस्तिका के निकट किरीट भी था। असम के अकिया नाट मे 'ग्रीन रूम' को 'छघर' कहते है, जो छद्मगृह का अपभ्रश है। 'छघर' से पात्र गायन-बायन के पास होते हुए रगस्थली मे जाते है।

प्राय उत्तर भारत के अन्य नाट्यो के प्रदर्शन मे 'ग्रीन रूम' को अलग करने की प्रथा नही है। गायक-वृन्द के निकट ही वे पात्र बैठे रहते है, जिन्हे बाद मे प्रवेश करना होता है।

रगशाला मे गायको और वाद्यकारो की मण्डली के लिए स्थान की विशेष महत्ता है, क्योकि पर्दो और औपचारिक दृश्य-परिवर्त्तन के अभाव मे गीत और वाद्य-वादन ही कथासूत्र को शृखलाबद्ध करते है तथा प्रसगो के बीच कालावधि मे पूरक का काम करते है। सूत्रधार इस मण्डली का अभिन्न अग होता है और कही-कही उसका प्रमुख भी। गुजरात की भवई मे दो नटो को आदेश मिलता है कि वे एक वृत्ताकार मच तैयार करे, जिसे 'पौढ' कहा जाता है और जिसपर गान-मण्डली बैठती है। असम के अकिया नाट मे इस मण्डली के लिए एक अत्यन्त समीचीन शब्द है—गायन-बायन। असम के भाओनाघर के एक सिरे पर तो भागवतग्रन्थ रखा रहता है और दूसरे सिरे पर एक गद्दे पर गायन-बायन बैठते है। दोनो के बीच मे एक लम्बे पथ की भाँति रगस्थली होती है। सूत्रधार अपनी घोषणाओ और प्रवचनो के बाद गायन-बायन के निकट ही जा बैठता है। रासलीला के छोटे-से मण्डप मे गायक और वाद्यकार, जिन्हे समाजी कहा जाता है, रगस्थली मे ही बैठते है, ताकि बाल-नटो को निर्देशन देने मे सुविधा हो। माँच-रगमच पर ठीक पीछे एक स्थान गायक-मण्डली के नियत है, जिसे टेक-का-पाट कहते है, यानी वह पाट, जहाँ से नाट्यगीतो की टेक उठाई जाती है। वस्तुत, यह टेक ही वह अदृश्य, किन्तु श्रव्यसूत्र है, जो नाटक की गति को सचालित करता है।

यह टेक महाराष्ट्र के 'तमाशा' मे इतनी जरूरी है कि वहाँ गायक-मण्डली नट-नटियो के ठीक पीछे खडी होकर ही गीत की रीढ को सँभाले रहती है। दक्षिण की तो लगभग सभी नाट्यशैलियो मे गायकवृन्द अभि नेताओ की पृष्ठभूमि की भाँति खडे रहते है। यही काश्मीर रंगमच की परिपाटी है। किन्तु साँग, नौटकी मे गुरु अथवा उस्ताद अपनी मण्डली के साथ मच पर या उसके निकट बैठते है। यात्रा मे भी यही नियम है और शायद रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी नृत्य-नाटिकाओ मे मच पर ही बैठने का नियम यात्रा की पद्धति के अनुसरण मे निर्धारित किया।

सेटिंग और मंच-व्यवस्था :

मंच पर गान-मण्डली की उपस्थिति के कारण कुर्सी इत्यादि, या स्टेज प्रापर्टी लिए स्थान नही रहता। वैसे भी अधिकतर पात्र खडे ही रहते है, राजा या ऋषि-मुनि के लिए आसन की व्यवस्था कभी-कभी की जाती है। अकिया नाट मे विभिन्न स्थानो के लिए जो चौकियाँ रखी रहती है, उनपर मुख्य पात्र सवादो के बीच मे बैठ जाते है। चैतन्य महाप्रभु के जीवन पर आधारित जात्रा मे शयनगृह के नाम पर एक पलग-मात्र बिछा दिया जाता है। वस्तुत., परम्पराशील नाट्य मे वाणी, गीत और वेशभूषा द्वारा रसनिष्पत्ति का आविर्भाव किया जाता है, मच पर स्थान-विशेषसूचक पदार्थो के यथातथ्य अथवा साकेतिक नियोजन से वातावरण उत्पन्न करने की चेष्टा नही होती। किन्तु, फिर भी साधारण प्रेक्षको मे विस्मय और आह्लाद की उद्भावना के लिए उन रगशालाओ मे, जिन्हे राज्याश्रय अथवा देवालयो से सरक्षण प्राप्त होता रहा, चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन किये जाते है। केरल के कूटियाट्टम् मे कुछ पहले तक गरुड की उडान के लिए कुछ यन्त्र

ऊपर : केरल का कूडीआट्टम् : अर्जुन और विदूषक (सुभद्रा-धनंजयम् का एक दृश्य)

नीचे : केरल का ईसाई नाट्य: चविट्टु क्रुजेड का दृश्य—चार्लमेंग अपने पार्षदों के साथ
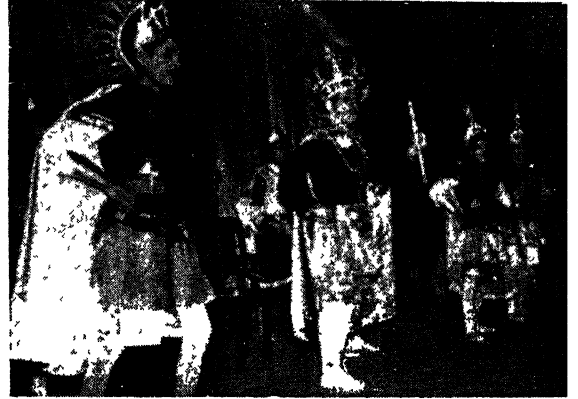
तैयार किये जाते थे। नौटकी मे स्याहपोश के अभिनय मे फाँसी का दृश्य अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण होता था। अकिया नाट मे रगस्थली पर श्रीकृष्ण रथ पर चढकर आते है, जिसमे कागज और कूट के घोडे के भीतर बैठे लोग उसे सचालित करते है। फिर भी, ये चमत्कारदृश्य अपवादस्वरूप है। आचलिक नाट्यो की सामान्यत. प्रवृत्ति यह है कि नाटक की मूल प्रेरणा और सवाद का सीधा सम्प्रेषण प्रेक्षक तक किया जाय, उसमे व्यवधान कम-से-कम हो।

जबतक गैस के हण्डो और हाल ही मे बिजली ने परम्पराशील रगशाला पर धावा नही बोला था, तबतक दीपक अथवा मशाल के मन्द प्रकाश मे पात्रो के रग-विरगे और गहरे प्रसाधन अत्यन्त आकर्षक रूप मे प्रदीप्त होते थे। दक्षिण भारत मे कही-कही अब भी दीपक की ज्योति की पूर्णतया उपेक्षा नही हुई है। केरल के नाटको और कथकली-नृत्य-प्रदर्शन मे अब भी पीतल का विशाल स्तम्भ मच को सुशोभित करता है, चाहे हॉल मे बिजली के बल्ब जगमगाते हो। दीपक की एक लौ दर्शको की ओर उन्मुख होती है और दूसरी अभिनेताओ की ओर। कर्नाटक के 'यक्षगान' एव 'बयलाट' मे नट के दोनो ओर मशाल लिये हुए दो अनुचर खडे रहते है, और नट जैसे-जैसे आगे-पीछे चलता है, वैसे ही मशालधारी परिचारक भी। कर्नाटक से सैकडो मील दूर असम मे भी मशालो का रगशाला मे प्रयोग होता है, किन्तु अधिक कलापूर्ण ढग से। जब किसी प्रधान पात्र का प्रवेश होता है, तब दो व्यक्ति लकडी का मेहराब लेकर खडे होते है, जिसके नीचे से पात्र प्रवेश करता है। इस मेहराब पर चार-पाँच छोटी-छोटी मशाले लगी होती है और ज्योही पात्र उसके नीचे से गुजरता है, उसके चेहरे का प्रसाधन, उसकी आकृति और वेशभूषा जगमगा उठते है, सैकडो प्रेक्षक पलभर मे पात्र और उसके शील एव प्रवृत्तियो को पहचान लेते है।

परम्पराशील आचलिक रगशाला का यह मन्द मधुर स्मिति-सा प्रकाश अब बिजली द्वारा आक्रान्त हो रहा है। बिजली कोई बुरी वस्तु नही है, किन्तु उसके कलापूर्ण उपयोग के लिए सुरुचि और कौशल की दरकार है, जो सहज उपलब्ध नही। मैने तमिलनाडु के अत्यन्त शास्त्रसम्मत और प्राचीन शैली के अभिनयो पर भद्दे रगो के स्लाइड्ज का प्रकाश पडते देखा है। बात यह है कि जनसाधारण के जीवन मे, विशेषत गाँवो के वातावरण मे, किसी भी प्रकार के नूतन साधन अपने मे एक चमत्कार, एक तरह का जादू है। और जादू-टोना जनसमुदाय को स्वभावत आकृष्ट करता है। बिजली का जादू रगशाला ही नही, मन्दिरो के ऊपर भी चढ रहा है। मैने मदुरा के मीनाक्षी-मन्दिर मे, ठीक गर्भगृह मे 'निअन लाइट' के स्तम्भ देखे है, जिनपर अँगरेजी मे 'निअन लाइट कम्पनी' का नाम भी अकित था। मुझे लगा, मानो मीनाक्षी की सुन्दर आँखो मे किरकिरी जा पडी हो!

वेशभूषा और पूर्वरंग

वेशभूषा और प्रसाधन :

परम्पराशील नाट्य मे भरत-नाट्यशास्त्र के दो अगो का विशेष महत्त्व है। एक तो है आहार्य-अभिनय, यानी वेशभूषा और अगराग द्वारा पात्र के चरित्र को प्रकट करना। दूसरा है पूर्वरग, यानी मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने से पहले स्तुति, प्रस्तावना, परिचय, पूजन इत्यादि की प्रक्रियाएँ।

वेशभूषा और अगराग का ध्येय यथातथ्य का चित्रण करना नही है। पात्र के चरित्र के अनुसार रगो का विधान, उसकी प्रवृत्तियो के अनुकूल वस्त्रो का आयोजन शास्त्र-सम्मत विधि से किया जाता है। इस तरह का रूढिगत आहार्य नियोजन दक्षिण के परम्पराशील नाट्य मे अधिक पाया जाता है। फिर भी रूढियाँ तो देश-भर मे व्यापक है। भरत के अनुसार विदूषक हाथ मे वक्रदण्ड लिये होता है। राजस्थान के ख्याल नाट्य मे तेजाजी का बन्धु, जो विदूषक ही है, इसी ढग की लकडी साथ मे रखता है। काश्मीर मे विदूषक को मसखरा कहते है और वह भी एक टेढी लकडी अपने साथ रखता है। केरल के कूटियाट्टम् मे विदूषक की सज्जा बडी सावधानी से की जाती है—मुख, वदन और भुजाओ पर चावल का आटा रँगा होता है, मस्तक, नासिका, कपोल पर लाल रग लगा होता है, आँखो मे गहरा काजल, जो कानो तक फैला होता है, एक मूँछ ऊपर उठी हुई और एक नीचे गिरी हुई। उसके पास भी उसी ढग का टेढा दण्ड होता है।

वेशभूषा मे विविधता दो कारणो से आई है। एक तो मध्ययुग मे मुसलमानी प्रभाव से लम्बे जामे पहनने की प्रथा चल निकली और दूसरे हिमालय और काश्मीर मे सरदी के कारण सारे शरीर को ढकनेवाले वस्त्र पहने जाने लगे। किन्तु, भारी और भव्य पोशाक ऐसे प्रदेशो मे भी पहनी जाती है, जहाँ की जलवायु अधिक शीत नही है। वेशभूषा और अगराग के विषय मे कितनी तैयारी की आवश्यकता होती है, इसका एक नमूना कर्नाटक के यक्षगान मे मिलता है। वहाँ के एक पात्र, बन्नदावेश, की तैयारी मे घण्टो लगते है। डॉ० रगनाथ ने यक्षगान की वेशभूषा के विषय मे अपने ग्रन्थ (द कर्नाटक थियेटर) मे ब्योरेवार वर्णन दिया है, जो यहाँ अप्रासगिक न होगा "यदि यम अथवा नृसिह की भूमिका हो अथवा किसी राक्षस की, तो नट की कमर को बृहदाकार करने के लिए वस्त्रो अथवा साडियो से शरीर को लपेट दिया जायगा। पात्रो की आन्तरिक विशेषताओ को प्रदर्शित करने के लिए उपयुक्त रगो के जामे (ढीले वस्त्र) पहराये जाते है, दैत्य के लिए काले और राजाओ, देवताओ और महानायको के लिए कत्थई। उसके ऊपर शीशे के टुकड़ो से अलकृत कढ़ाईवाली वास्कट पहनी जाती है। आभूषणो मे प्राय मोती और मूँगा के कण्ठहार और मालाएँ, कोहुनी पर भुजकीर्त्ति, कलाई पर तोल पवाडा, भुजाओ पर सोने की पत्ती, सिर पर मुकुट, कानों मे कर्णफूल, कमर से

'दगले' नामक कढाईदार वस्त्र लटकता रहता है और पैरो मे नूपुर। शिरस्त्राण और मुकुट नाना आकार-प्रकार के होते है। सबसे ऊँचे मुकुट 'बट्टालु किरीट' कहलाते है, आभा-मण्डल-सहित ये मुकुट दशरथ और धर्मराज जैसे महत् पात्रो द्वारा धारण किये जाते है। राम और अर्जुन जैसे पात्र 'पौम्बे किरीट' पहनते है, शूर्पणखा इत्यादि राक्षसी मोरपखो से सुसज्जित 'राक्कसी किरीट' धारण करते है, और हनुमान् के मुकुट को 'हनुमन्तन किरीट' कहा जाता है। सफेद और काले कपडे से बने और चाँदी की जरी और मोरपख से अलकृत आभामण्डल को 'सिरिमुडि' कहते है और कृष्ण एव अभिमन्यु जैसे पात्र इसे धारण करते है। मुख-प्रसाधन के लिए रगो का चुनाव अत्यन्त सावधानी से किया जाता है। देवताओ का रग रक्तिम श्वेत होता है। कृष्ण का प्रसाधन मनोरम नीले रग से किया जाता है। पहले समय मे मूल रगो को स्थानीय उपलब्ध रग-पदार्थों (जैसे आरडाल, इगलीका कडिगे, बलप) से तैयार किया जाता है। रगो के इस मूल स्तर, यानी जमीन पर ही पात्र की चरित्रगत विशेषताओ को लाल और सफेद रगो मे अकित किया जाता है। नृसिह, रावण, चण्डी और यम जैसे प्रचण्ड या भव्य पात्रो की नासिका को कपास लगाकर ऊँचा उठा दिया जाता है, नेत्र वास्तविक आकार से तिगुने बडे जान पडते है, और सफेद बूँदो की लडी चेहरे के चारो ओर एक फ्रेम की भाँति अकित कर दी जाती है।"[1]

दक्षिण भारत की अनेक नाट्यशैलियो मे इस तरह के रूढिगत प्रसाधन और वेशभूषा का व्यवहार आजतक होता रहा है। उत्तर भारत का रगमच वेशभूषा-परम्परा का बराबर पालन नही कर सका और इसलिए उसमे एक-दो प्रमुख पात्रो की ही वेशभूषा मूल रूप मे कायम रह सकी। ब्रज की रासलीला मे कृष्ण और उत्तरप्रदेश की रामलीला मे राम को जिस तरह के जामे और चूडीदार पाजामे पहनाये जाते है, वे मुगलकालीन अथवा राजपूत-राजाओ के वस्त्रो से विशेष भिन्न नही है।

रूढियाँ और विविधता :

वेशभूषा और अगराग एव प्रसाधन के विषय मे निम्नाकित सामान्य विशेषताएँ परम्पराशील नाट्यविधाओ मे दीख पडती है

१. अधिकतर आचलिक नाट्यो मे चटखीले रग के कपडे व्यवहार मे लाये जाते है। इस तरह ग्रामो मे जहाँ प्रकाश कम होता है, पात्रो को दूर से पहचाना जा सकता है।

२ उत्तर और दक्षिण दोनो ही नाट्यविधाओ मे रूढिगत वेशभूषा का प्रयोग होता है। फिर भी, उत्तर के कुछ नाट्यो मे यथार्थ शैली के वस्त्र भी प्रयोग मे आने लगे हैं।

३. देश-भर मे मुखौटे रगमच पर काम मे लाये जाते है। पौराणिक नाटको मे राक्षसो, गन्धर्वो इत्यादि के लिए मुखौटे लगाये जाते है। दक्षिण भारत मे उत्तर की अपेक्षा मुखौटे अधिक कलापूर्ण और शास्त्र-सम्मत रगो से अलकृत होते है। कूटियाट्टम्-नाट्य के

---

१. दे० 'द कर्नाटक थियेटर' डॉ० एच्० के० रगनाथ।

नृसिह का मुखौटा दो फुट से भी अधिक दीर्घ आकार का है और उसके दर्शन-मात्र मे अलौकिक शक्ति का आभास होता है।

४. रूढिगत वेशभूषा के साथ-साथ जो पात्र दैनिक जीवन के प्रतिबिम्ब है (यानी साधु, भिखारी, नाई, पुजारी इत्यादि), उनकी वेशभूषा यथार्थ की द्योतक है।

५ अगराग और वेशभूषा मे जो सामग्री इस्तेमाल होती है, वह प्राय स्थानीय कलाकार और शिल्पी ही प्रस्तुत करते है। इस तरह परम्पराशील नाट्य-प्रदर्शन के बहाने स्थानीय हस्तशिल्पियो को अपनी दक्षता दिखाने का अवसर मिलता है। दूसरे शब्दो मे रगशाला अन्य ललित-कलाओ को प्रोत्साहन देती है, उनका विकास करती है।

६ इस विशाल देश के विविध क्षेत्रो के पात्र यद्यपि कई प्रकार के कपडे पहनते है, तथापि उनमे अनेक बातो मे साम्य भी है। इस साम्य का आधार परम्पराशील नाट्यो का पौराणिक उद्गम है।

पूर्वरंग के प्रकार :

भरत-नाट्यशास्त्र के समय से आजतक पूर्वरग की परम्परा आचलिक रगमच मे जिस तरह प्रवाहित होती रही है, वह निश्चय ही आश्चर्य का विषय है। भरत ने रगपूजन और पूर्वरग का जो भेद किया है, वह आचलिक नाट्यो मे स्पष्ट तो नही है। फिर भी, उसमे कुछ ऐसी विशेषताएँ है, जो अभी तक मौलिक रूप मे दृष्टिगत होती है। केरल के कूटियाट्टम् मे पहले मृदंग-वादन होता है, तदुपरान्त नान्दी-श्लोक के बाद मच पर पवित्र जल छिडका जाता है। उसके बाद सूत्रधार विशेष भगिमा मे, जिसे 'क्रियाचवट्टु' कहा जाता है, नृत्य करते हुए रगस्थली पर जाता है और कुछ पदो का पाठ करता है। उसके बाद मुख्य विषयवस्तु की स्थापना होती है। स्थापना के अर्थ है मुख्य पात्रो का परिचय देना। उसके बाद विदूषक दर्शको के सामने पुरुषार्थ का वर्णन करता है और प्राचीन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्थान पर विनोद, वचना, अशन और राजसेवा को पुरुषार्थ बताता है। इसके पश्चात् ही मुख्य नाटक प्रारम्भ होता है। हाल तक ही इस सम्पूर्ण पूर्वरग मे पॉच दिन लग जाते थे।

ऐसा जान पडता है कि कूटियाट्टम् मे विदूषक और सूत्रधार को अपना कौशल दिखाने के लिए पूर्वरग पर इतना समय दिया जाता है। असम के अकिया नाट मे भी शायद वहॉ की आदिम जातियो के कलाकारो को प्रोत्साहन देने के लिए शकरदेव ने प्रारम्भ मे मृदग-वादन पर इतना जोर दिया। मैने अकिया नाट का जो पूर्वरग देखा था, उसका विवरण मै अन्यत्र प्रस्तुत करूँगा।

इन दो प्रकार के पूर्वरगो के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की नाट्यशैलियो मे किसी-न-किसी देवी-देवता का पूजन प्रारम्भ मे अवश्य होता है। 'भवई' मे गणपति की पूजा होती है और काली की भी। 'भागवतमेल' मे भी गणेश का पूजन होता है तथा महाराष्ट्र मे भी। 'सागीत' और 'बिदेसिया' मे सरस्वती, दुर्गा और गणेश तीनो की स्तुति होती है। गणेश के पूजन का रहस्य यह है कि जब भरत मुनि के प्रथम नाट्य-प्रयोग मे विघ्न हुआ, तब शिवजी के गणों ने जाकर उनकी रक्षा की और इसीलिए गणेश का पूजन

आजतक अनिवार्य समझा जाता है। काश्मीर का 'भाण्डजशन' यद्यपि मुसलमान-कलाकारो द्वारा खेला जाता है, तथापि उसमे भी प्रारम्भ मे परमात्मा की वन्दना के बाद सस्कृत-मन्त्रो की नकल मे कुछ पूजापाठ होता है। इस पूजापाठ मे विदूषक भी कुछ परिहास करता है। पूर्वरग का यह परिहास भरत के नाट्यशास्त्र मे ही वर्णित है। नाट्यशास्त्र के पचम अध्याय के १३४वे श्लोक मे कहा गया है कि सूत्रधार और पारिपार्श्विक नान्दी-पाठ के उपरान्त एक-दूसरे से बातचीत प्रारम्भ करे, तभी विदूषक अकस्मात् उपस्थित होकर बे-सिर-पैर की बात छेड दे, जिसे सुनकर दोनो को हँसी आ जाय। पूर्वरग मे इस तरह तीनो-व्यक्तियो मे वार्त्तालाप 'त्रिगत' कहलाता है। आश्चर्य यह है कि त्रिगत-जैसी ही प्रथा पूर्णिया जिले के 'बिदापत नाच' नामक शैली मे आज भी विद्यमान है। वहाँ भी प्रस्तावना के समय विदूषक इसी भाँति उल्टे अर्थवाली बात छेड देता है। इन अशिक्षित ग्रामीणो मे नाट्यशास्त्र के नियम चालू रहे, यह इस बात का प्रमाण है कि आचलिक रगमच की परम्परा बहुत प्राचीन है और विद्वान् लक्षणकारो के विना ही ये जनमानस मे अनवरत प्रवाहित होती रही है।

हिमाचल के 'करियाला' की प्रस्तावना मे विदूषक एक स्त्री-पात्र के साथ नाचता हुआ उपस्थित होता है। स्त्री-पात्र को 'चन्द्रावली' कहते है। दोनो हास्यपूर्ण मूकाभिनय करते है और गान-मण्डली के सहगान को मुद्राओ से प्रत्यक्ष करते है। उत्तरप्रदेश के नक्कालो के पूर्वरग मे विदूषक एक दूसरे नट को घोडा बनाकर लाता है और दर्शको को अपने नायाब घोडे के गुणो से परिचित कराता है। जैसा अँगरेजी-नाट्य के विद्वान् जानते है, पाश्चात्य देशो मे भी विदूषक घोडे को लेकर नाना प्रकार के अश्लील मजाक करता है जिससे अँगरेजी मे एक मुहावरा चल पडा है—'हॉर्स प्ले'।

पूर्वरग मे वाद्य-वादन, स्तुति और परिहास के अतिरिक्त चौथा अग होता है मच की तैयारी की रस्म। नाट्यशास्त्र मे सूत्रधार द्वारा मच पर पवित्र जल के छिडके जाने का विधान है। मध्यप्रदेश मे माँच के प्रारम्भ मे एक भिश्ती आता है और अपने वश की कथा कहने के बाद मशक से जल छिड़कने का अभिनय करता है। उसके बाद फर्राश आता है और उसी भाँति अपनी वशावली का गीत गाकर फर्श बिछाने का अभिनय करता है।

पूर्वरग का पॉचवॉ और शायद सबसे महत्त्वपूर्ण अग है प्रस्तावना। संस्कृत-नाटको मे नाटक की विषयवस्तु-सम्बन्धी प्रस्तावना सूत्रधार और नटी के सवाद के रूप मे होती है। उत्तर कर्नाटक के 'दोड्डाता' मे यही संवाद प्रधान गायक, यानी भागवतर और सारथी के बीच होता है। दक्षिण के इस नाट्य मे सारथी और उत्तर के नक्कालो मे घुडसवार का पूर्वरग मे उपस्थित होना किसी अज्ञात, किन्तु एक ही परम्परा का द्योतक है। मॉच मे नाटक की घोषणा (जिसे नाट्यशास्त्र मे 'प्ररोचन' कहा गया है) चोपदार द्वारा की जाती है। तमिलनाडु के भागवतमेल से पात्रो का परिचय सूत्रधार और विदूषक (जिसे कट्टिय-क्करण कहते है) के बीच चटपटे सवाद द्वारा दिया जाता है। उत्तरप्रदेश के मुजफ्फर-नगर की नकल-शैली मे प्रमुख पात्र एक-एक करके अपना परिचय देते है और तदुपरान्त खलीफा सम्पूर्ण नाटक की विषयवस्तु का परिचय देता है।

पूर्वरंग के उद्देश्य :

परम्पराशील नाट्य के पूर्वरग के इस सक्षिप्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि पूर्वरग के दो प्रमुख उद्देश्य इन कलाकारो को प्रेरित करते है। पहला तो यह कि पूर्वरग के विभिन्न प्रदर्शनो द्वारा दर्शक-समाज को जुटाया जाता है, उनमे उत्सुकता उत्पन्न की जाती है। दूसरा यह कि पूर्वरग उन सभी सहयोगियो, शिल्पियो, श्रमिको इत्यादि के प्रति रोचक ढग से कृतज्ञता-ज्ञापन होता है, जिनके कारण रग-प्रदर्शन सम्भव हो जाता है। जैसे, आजकल सिनेमा मे, प्रारम्भ मे 'क्रेडिट' दिखाये जाते है और उन लोगो का उल्लेख होता है, जिन्होने फोटोग्राफी, गान, डाइरेक्शन इत्यादि मे सहायता की, उसी भाँति परम्पराशील नाट्य मे सारथी, भिश्ती, फर्राश से लेकर गायक, वादक, नर्त्तक और विदूषक तक का भी परिचय दिया जाता है। अन्तर इतना है कि इन परम्परागत नाट्यो मे कलाकार और सहयोगी गुमनाम रहते है, उनके व्यवसाय का ही उल्लेख होता है। अगणित गुमनाम कलाकारो के कण्ठ और स्वरो से अलकृत इस विनीत नाट्य-शैली का प्रथम गगनव्यापी निर्घोष प्रेक्षक-समाज मे उल्लास की तरगे उद्वेलित कर देता है। इस पूर्वरग का प्रतीक है मृदग। मृदग भारतवर्ष की आर्येतर आदिम जातियो का प्रतीक है। जब मृदग पर थाप पडती है, तब मानो धरती झूम उठती है और आदिम पृथ्वीपुत्र को आह्वान मिलता है। मेरा अनुमान है कि भरत मुनि ने नाट्य की योजना मे आर्य-सस्कृति और आदिम जातियो की कला का सामजस्य स्थापित किया और पूर्वरग के विभिन्न अग इस सामजस्य के स्वरूप है। पूर्वरग मे मृदग को जो विशेष स्थान दिया गया है, वह आर्यजातियो द्वारा आदिम जातियो के कला और कौशल का अभिनन्दन है।

[तृतीय भाग]

चयनिका

७. कुछ रंग-प्रदर्शनों की झाँकियाँ

८. परम्पराशील नाट्य-साहित्य के नमूने

कुछ रंग-प्रदर्शनों की झाँकियाँ

परम्पराशील नाट्यो का दर्शक, दर्शक-मात्र नही होता, वह तो उस उत्सवपूर्ण वातावरण का अग बन जाता है, जो नट, गायक और वाद्यकार अपने कला-कौशल से उत्पन्न कर देते है। वह झूमता ही नही, कभी-कभी बोल भी उठता है, विभोर ही नही होता, कभी-कभी स्वय नट बन जाता है। मैने अनेक ग्रामो मे परम्पराशील नाट्याभिनय देखे है। किन्तु अन्य मध्यवर्गीय, नागरिक सभ्यता-पोषित लोगो की भाँति मेरे भी सस्कार ऐसे है कि उस उल्लासपूर्ण वातावरण का अग नही बन सका, दर्शक ही बना रहा, उनमे घुल-मिल नही पाया, पर्यवेक्षक की भाँति झिझक और शिष्टता की जंजीरो मे बँधा रहा। किन्तु, इस परिस्थिति से एक लाभ मैने उठाया तटस्थ रहकर मै उन अभिनयो की विशेषताओ को गौर से देख सका, उनके बारे मे कुछ ऐसी सामग्री तुरन्त ही लिख सका, जो प्राय ग्रन्थो मे उपलब्ध नही।

सन् १९४४ ई० मे एक बार उत्तर बिहार के हाजीपुर-सबडिवीजन के एक गाँव मे दौरा करते समय अकस्मात् मुझे हरिजनो की बस्ती मे 'जालिमसिह' नामक ग्रामीण नाट्य का प्रदर्शन देखने को मिला। उसके अपरिष्कृत बहिरग के बावजूद मेरे ऊपर उक्त कथानक की सामाजिक चेतना और गान-पद्धति की प्रेषणीयता का गहरा प्रभाव पडा और इस तरह परम्पराशील नाट्यो के प्रति मेरे मन मे वह जिज्ञासा जागरित हुई, जिसने आजतक मेरा पीछा नही छोडा है। उसके बाद मैने देश के विभिन्न भागो मे आचलिक नाट्यो के अभिनय देखे और उनपर नोट्स लिखे। पर, दस वर्ष बाद, सन् १९६२ ई० के ग्रीष्म मे, मसूरी मे कुछ इसी तरह मुझे पुन एक अनौपचारिक प्रदर्शन मे अनामन्त्रित प्रेक्षक बनने का अवसर मिला और हाजीपुर के उस अनुभव की याद ताजी हो गई। हमलोग मसूरी मे थे और किसी थियेटर मे लखनऊ से आई हुई एक शहरी पार्टी द्वारा प्रस्तुत आधुनिक शैली का नाटक देखने गये हुए थे। उस नाटक की कृत्रिम शैली मे न तो आधुनिक नाटको का गतिमय समावेश था और न परम्परा के रग। मन उचाट हो गया और हमलोग माफी माँगकर बाहर निकल आये। मध्यरात्रि हो चुकी थी, हवा मे थोडी सिहरन थी, किन्तु मसूरी की मालरोड का वायुमण्डल शाम को घूमनेवाले बने-ठने पुरुषो और नारियो की निरर्थक वाणी के कोलाहल से छुटकारा पाकर निर्मल हो गया था। सहसा दूर से घाटियो और कन्दराओ मे से आती हुई किसी अनजानी पुकार की भाँति ढोलक की आवाज सुनाई पडी। मै अपने मित्रो से विदा माँगकर उस ध्वनि के सूत्र का सहारा लेकर एक चौक मे जा पहुँचा, जहाँ मसूरी के कुलियो, रिक्शावालो, नौकरो, होटल के बेयरो इत्यादि के बडे दर्शक-समूह से घिरी हुई एक साग-मण्डली मस्त होकर अभिनय कर रही थी। थियेटर के घुटे-घुटे-से वातावरण और कृत्रिम रगविधान के बाद उस सादगी ने मुझे मोह लिया। न कोई सीन-सीनरी, न कोई मच, वाद्यो के नाम पर ढोलकी और हारमोनियम, पोशाक भी बहुत कम, मानो दर्शको मे से ही कुछ लोग अपने यथार्थ जीवन को नाटक का रूप दे रहे हो। नाटक मे

कौतुक और नीति का विलक्षण मिश्रण था। एक सोलह बरस की कन्या के लिए किसी बीस वर्षीय वर की तलाश हो रही है, विदूषक सलाह देता है—क्यो न दस-दस बरस के दो वर खोज लिये जायँ! बाद मे कन्या का पिता जब भावी वर का टीका करने जाता है, तब वही विदूषक अत्यन्त गरिमापूर्ण स्वर मे व्याख्या करता है—"सुनो! टीके तीन तरह के होते है। एक तो वह टीका, जो भगवान् के मन्दिर मे पूजन के बाद तुम अपने मस्तक पर लगाते हो। दूसरा वह, जो विवाह के पूर्व कन्या की ओर से भेट इत्यादि के साथ मगलसूचक चिह्न तुम्हारे माथे पर लगाया जा रहा है। और, तीसरा वह, जो किसी दुष्कर्म के फलस्वरूप समाज के अदृश्य हाथों से ऐसी स्याही मे लगता है, जो छुडाये नही छूटता, वह है कलक का टीका! और भाई मेरे, उस टीके से हमेशा बचना!"

रिक्शावालो के बीच खडे होकर जब मैने यह व्याख्या सुनी, तब आचलिक नाट्य के सामाजिक सामर्थ्य से प्रभावित हुए बिना नही रहा गया और मुझे लगा कि हम सामाजिक चेतना के एक अत्यन्त सशक्त माध्यम की उपेक्षा करते रहे है।

सन् १९४४ ई० मे हाजीपुर मे 'जालिमसिह' के खेल और सन् १९६२ ई० मे रिक्शा-वालो के मनोरजनार्थ वह साँग—इन दो तटो के बीच मेरे अनुभवो की जो धारा बहती रही है, उसकी दो-चार हिलोरो का स्पर्श पाठको को कराने का प्रयास करूँगा।

पौराणिक रंगशाला : कर्नाटक का 'दोड्डाता' :

कर्नाटक मे धारवाड के निकट पौराणिक नाट्य 'दोड्डाता' का अभिनय देखने का अवसर सन् १९५८ ई० के आसपास मुझे मिला। कर्नाटक मे लगभग २० दोड्डाता-मण्डलियाँ हैं। मण्डली के प्रमुख को 'भागवतर' कहते है। मच के नाम पर एक चौकी और उसपर एक चन्दोबा था। पूर्वरग के गणपति-पूजन और सरस्वती-वन्दना के लिए भागवतर के वन्दन-गान के साथ दोनो देवी-देवता के प्रवेश हुए। तदुपरान्त, सारथी आया ऐसी नृत्य-भगिमा मे, जिसमे अदृश्य घोडे, लगाम और रथ का आभास होता था। सारथी भागवतर से पूछता है:

'काहे तुमलोग गाँव मे शोर मचा रहे हो?'
'शोर नही मचा रहे, हम तो भागवत-कथा दिखाने जा रहे है।'
'मुझे भी अपनी मण्डली मे शामिल करोगे?'
'हाँ, हाँ, तुम्हे राजदरबार मे दूत का काम दे सकते है।'
'पर, जो तनख्वाह मिलेगी, उसका क्या करोगे?'
'मै सुँघनी खरीदूँगा और यो नाक मे लगाकर और इस तरह ...आक् छी .. छीकूँगा।'

इधर यह प्रस्तावना हो रही है, उधर अर्जुन मच के एक कोने पर आकर समाधि-मुद्रा मे बैठ जाता है। सारथी उसके पास जाकर पूछता है—'ऐ! कौन हो तुम, काठ की तरह बैठे क्या कर रहे हो?' अर्जुन उत्तर देता है कि वह पाण्डवो मे विख्यात वीर अर्जुन है और भगवान् शिव के लिए तपस्या कर रहा है। एक नृत्य के बाद सारथी तो मंच से चला जाता है। शिव (व्याघ्र-छाल और त्रिशूल-सहित) और पार्वती (साडी, मेखला और किरीट पहने) प्रवेश करते है। पार्वती शिव से मनुष्य-मात्र के दुःख का कारण पूछती है,

शिव अध्यात्म की व्याख्या करते है, दु ख-सुख का रहस्य समझाते हैं। इधर गान-मण्डली (जिसे दोड्डाता मे 'हिम्मेल' कहा जाता है) शिवस्तुति करती है, और पार्वती की भूमिका करनेवाला नट भी उस स्तुति मे सम्मिलित होता है एव नृत्य भी करता है। मजे की बात यह कि पार्वती के नृत्य मे थोडी देर के लिए शिव भी शामिल हो जाते है। पुन. सवाद, जिसमे कर्नाटक के लिगायत-सम्प्रदाय के सिद्धान्त मे शिवभक्ति की महिमा का वर्णन होता है। एक बात और। जब पार्वती शिवस्तुति का गान और नृत्य करती है, तब बीच-बीच मे रुक-रुककर कहती है—"हे महादेव! सुनिए, मै आपकी महिमा का वर्णन कर रही हूँ।" शिव उत्तर देते है—"हे प्रिये कहती जाओ, मै सुन रहा हूँ।" जान पडता है कि नटो को विराम देने के लिए यह प्रथा अपनाई जाती है।

पार्वती थोडी देर बाद अर्जुन को समाधिस्थ देखकर शिव से कहती है—'इस बेचारे को वरदान दीजिए।' पर, इस बीच नारदजी आते है—लम्बा अगवस्त्र, जिसे 'कपिनी' कहा जाता है, एक हाथ मे करताल, दूसरे मे माला। अपने भजन मे विष्णु के दशावतार का वर्णन करते है और शिव को बतलाते है कि अर्जुन इन्द्र-पद की प्राप्ति के लिए तपस्या नही कर रहा है, वरन् शिव को प्रसन्न करने के लिए।

शिव किरात का वेश धारण करते है और अर्जुन की ओर अग्रसर होते है। तभी मच के बाहर से गान-मण्डली एक वाराह का कपडे का पुतला मच पर फेक देती है। अर्जुन और शिव दोनो एक साथ अपने बाण से वाराह पर निशाने लगाते है और दोनो ही उसके शव को हस्तगत करने बढते है। उसके बाद आक्रोशमय सवाद, गीतो मे और गद्य मे भी—"हे किरात, तेरी यह धृष्टता! जानता नही, मै पाण्डुपुत्र वीर अर्जुन हूँ?" द्वन्द्वयुद्ध होता है, बाहर से कुछ व्यक्ति दोनो को तीर पकडाते है, भागवतर समरगान गाते है,—तीव्र गति, स्पष्ट ताल, जिसके अनुसार दोनो पात्र पदक्षेप करते है, धनुष खीचते है। स्वर, ध्वनि, ताल और मुद्राओ का ऐसा सामजस्य उपस्थित होता है, मानो हम युद्धस्थल पर पहुँच गये हो। कभी-कभी दोनो योद्धा घुटने टेककर बैठे मूर्त्ति-समान (स्टेचुस्क) मुद्रा मे दीखते हैं। उस छोटे-से मच पर एक घोर द्वन्द्वयुद्ध का आभास (इल्यूजन) देने के ये ही तरीके थे।

अर्जुन पराजित हो जाता है और हताश स्वर के गान मे कहता है—"मैने तपस्या की एकाग्रता को भग्न किया, इसीलिए पराजित हुआ हूँ।" किरात व्यग्यपूर्ण स्वर मे पूछता है—"कौन है वह निष्क्रिय देवता, जिसकी आराधना तुम कर रहे थे? चलो, उसे भी ठिकाने लगा दूँ।" अर्जुन तिलमिला उठता है और शिवलिग के सामने फूल चढाने लगता है। यह देखकर वह अचरज मे पड जाता है कि इधर वह शिवलिग पर फूल चढाता है, उधर किरात के चरणो के आगे फूल गिरते जाते है। गान-मण्डली का एक सदस्य मच पर दर्शको के सामने ही किरात के चरणो पर फूल डालने लगता है, पर दर्शको के ऊपर चमत्कार का जो प्रभाव पड रहा है, उसमे इस बात से कोई अन्तर नही होता। अर्जुन को ज्ञान होता है कि उसे पराजित करनेवाले किरात स्वय शिवशम्भु हैं। उनके चरणो पर झुक कर पाशुपत अस्त्र की याचना करता है। पार्वती भी उसपर प्रसन्न होकर पीठ पर वरद हस्त रखती है। नाटक के अन्त मे सब पात्र मिलकर मगलमय गीत गाते है, जिसमे भरतवाक्य के ही समान विश्व और समाज के लिए शान्ति और कल्याण का आह्वान होता है।

इस अभिनय के बहिरग मे कुछ विशेषताएँ थी। कथा की सन्धियो के अवसर पर सारथी और सूत्रधार मच पर अनेक बार आये। वाद्यो का नाद प्राय भागवतर की पक्तियो के अनुसरण मे स्वर-विस्तार करता था। नटो की हस्तमुद्राओ मे वैचित्र्य था, स्त्री-पात्र हाथो को ऊपर से नीचे लाते समय एक चक्कर-सा बनाते थे, पुरुष-पात्र अपने हाथो को नीचे लटकाये रहते थे—हथेलियो को दर्शको की ओर किये हुए। मुख्य नाटक के बीच मे एक लघु प्रहसन भी था, एक महाजन के विषय मे। किन्तु, प्रहसन के साथ भागवतर ने कोई गीत नही गाया, विदूषक (जिसे 'आडोसोगु' कहते है) को स्वय ही गाना भी पडा और सवाद भी बोलना पडा।

किरातार्जुनीय की कथा माघ की कथा पर आधारित होते हुए भी कही-कही नवीन नाटकीय तत्त्वो से सम्पन्न है। वस्तुत, किरात और अर्जुन की कथा, भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रो मे आचलिक कलाकारो का प्रिय विषय रही है। मैने 'दोड्डाता' से भी पहले हजारीबाग के गोला थाने के पास कुम्हार आदिवासियो की एक मण्डली द्वारा प्रस्तुत 'किरातार्जुनीय' नृत्य-नाट्य देखा था, जिससे मै इतना प्रभावित हुआ कि कुछ समय बाद मैने उस मण्डली को दिल्ली के लोकनृत्य-समारोह मे भेजा था। मेरा अनुमान है कि किरात और अर्जुन की कथा की लोकप्रियता का कारण यह है कि वह आदिम जातियो और आर्यो की सस्कृतियो के आदान-प्रदान का प्रतीक है, सघर्ष के बाद सामजस्य और विनिमय का चिह्न है। दूसरे इस प्रदर्शन मे एक ओर तो भागवत के पौराणिक वृत्त और दूसरी ओर आदिम जातियो के सामरिक नृत्य और वाद्य-वादन को सम्मिलित करने का अवसर मिलता है।

काश्मीर का 'भाँडजश्न' अथवा 'पथ्र' :

काश्मीर मे 'भाँडजश्न' नामक परम्पराशील रगशाला के नाट्यो को 'पथ्र' कहते है, जो सस्कृत-शब्द 'पात्र' का अपभ्रश जान पडता है। भाँड तो सस्कृत भाण से ही निकला है, यद्यपि पथ्र परिहासपूर्ण होते हुए भी सस्कृत के भाणरूपक से भिन्न है। श्रीनगर से १६ मील दूर वहथोर नामक ग्राम मे मैने मुसलमान-कलाकारो द्वारा प्रस्तुत 'दरदपथ्र' नामक नाट्य देखा। सबसे पहले हुआ पूर्वरग, जिसमे पूजापाठ भी था, और जो सस्कृत-मन्त्रो की अनुकृति जान पडा। शोभायात्रा मे गान-मण्डली के तालो पर धीरे-धीरे चलता हुआ उत्तरदेश का दरद सेनापति आता है। शरीर पर जामा, दाये हाथ मे पल्लव (यानी बडा रूमाल), बाये मे तबरजीन, जो कुल्हाडे के ढग का अस्त्र है। उसके पीछे-पीछे पक्तियो मे उसके सैनिक इत्यादि है, जो हाथो मे पल्लव और हथियार लिये हुए है।

थोडी देर बाद एक कनात लिये हुए दो अनुचर आते है। उनके पीछे दरद देश का आक्रमणकारी बादशाह और उसकी दो प्रेमिकाएँ है, जिन्हे माशूका कहा जाता है। गान-मण्डली उच्च स्वर मे वृन्दगान करती है, और तब (बहुत कुछ उसी भाँति, जैसे कथकली मे और असम के कुटियाट्टम् मे) कनात हटाकर हमे तीनो प्रमुख पात्रो के दर्शन होते है। अनुचर कनात को ऊपर उठाकर चन्दोबा बना देते है। बादशाह चमकता हुआ साफा, रग-विरगा कमरबन्द और कढा हुआ जामा पहने हुए माशूकाओ का हाथ पकडे आगे बढता है। तब विदूषक, जिसे मसखरा कहते है, मस्त भगिमा मे आगे बढता है, मानो बादशाह

की उपस्थिति का उसे कोई भान न हो। मसखरो की वेशभूषा साधारण कश्मीरी ग्रामवासी की-सी है। हठात् बादशाह को देखकर भयाक्रान्त होकर जब वह भागता है, तब दर्शक खिलखिलाते है। दूसरा देहाती आता है और वैसे ही किकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। उसके बाद तीसरा भी। क्रूर आक्रमणकारी के प्रभाव को दिखाने की अत्यन्त रोचक पद्धति अपनाई गई। चौथा देहाती तो अनजाने ही उस बादशाह के सामने पहुँचकर जिस तरह काँपने लगता है कि उसमे उच्चकोटि का अभिनय दीख पडता है।

बादशाह से डरते हुए भी ग्रामीण माशूकाओ की ओर आकृष्ट होते है और उनसे प्रेम करने और उन्हे चुम्बन करने की चेष्टा करते है। बादशाह रोष मे आकर अपना कोडा चलाता है। क्रोध के अभिनय मे वह जिस तरह अपने स्कन्ध हिलाता है, उसका कथकली मे रावण के अभिनय से साम्य है। दरद बादशाह किसानो पर कोडा चलाता है, उनपर अत्याचार करता है, मदिरा पीकर मदहोश हो जाता है, माशूकाओ के गले और कमर मे हाथ डाले झूमता है। किसान दूर से देख-देखकर टिप्पणी करते जाते है और जब बादशाह नशे मे बिलकुल अचेतन हो जाता है, तब वे चुपके-से एक-एक करके माशूकाओ को उडा ले जाते है। कामुक बादशाह होश मे आने पर अपनी प्रेमिकाओ को पाने के लिए कोडे फटकारता है, एक-एक करके ग्रामवासियो से प्रश्न करता है। इन सवाल-जवाबो मे अनेक नाटकीय तत्त्व दीखे। बादशाह ने पूछा—'मेरे माशूक को देखा है?' किसान बोला—'माशूक कौन बला होती है? क्या उसके शरीर है या केवल जघा है?' एक किसान कहता है—'मै तुम्हारे कान मे बताऊँगा कि तुम्हारी माशूका किधर है।' पर, जब अपने होठ बादशाह के कानो के पास ले जाता है, तब ठठाकर हँसने लगता है? क्यो? इसलिए कि बादशाह के कानों के बाल उसके होठो मे गुदगुदी पैदा करते है। इस तरह की भाँति-भाँति की धमाचौकडियो के बाद एक ग्रामीण बादशाह को समझाता है कि एक ही शर्त्त पर तुम्हारी माशूका तुम्हे मिल सकती है कि तुम हम किसानो पर अत्याचार करना छोड दो और मेल-भाव से रहो। बादशाह लिखकर अपनी घोषणा देता है और उसे अपनी प्रेमिकाएँ वापस मिल जाती है। अन्त मे एक सामूहिक नृत्य होता है।

कथानक तो हल्का ही था। लेकिन, कश्मीरी समाज और इतिहास की प्रवृत्तियो पर इससे प्रकाश पडता है। बादशाह और उसके दल के लोगों का दर्प और बनावट तथा कश्मीरी किसान की सादगी और विनोद-वृत्ति—इन दोनो का विपर्यय तरह-तरह से दरसाया गया। भाषा प्राय कश्मीरी होते हुए भी उसमे फारसी, पजाबी, हिन्दी और उर्दू के अनेक वाक्य थे। सवाद का आशुगुम्फन अत्यन्त सहजभावेन होता था। नट अक्सर सीधे प्रेक्षको को सम्बोधित करते थे। यह अभिनय दिन मे हुआ था। मंच नही था, दर्शक तीन ओर बैठे और खडे थे।

एक ईसाई रंगशाला : 'चाविट्टु नाटकम्' :

कश्मीरी मुसलमानो का यह खेल इस बात का प्रमाण है कि मजहबी बन्धनो के बावजूद राजदरबार से बाहर साधारण कलावन्त रंगशाला और नाट्य की ओर आकृष्ट हुए।

लखनऊ और आगरा की नक्काल-मण्डलियाँ ऐसी दूसरी विधा है, जिनमे मुसलमान कलाकार काम करते है। किन्तु, ईसाई-समाज का एक ही परम्पराशील नाट्य भारतवर्ष मे प्रचलित है। वह है मलाबार का 'चाविट्टु नाटकम्'। यो, १६वी-१७वी सदी मे इटैलियन यात्री मानुची ने पाण्डिचेरी के पास एक चर्च मे एक नाटक देखा और उसका विवरण लिख छोडा है, किन्तु शायद वह परम्परा लुप्त हो गई। परन्तु, 'चाविट्टु नाटकम्' भी १६वी सदी मे पुर्त्तगाली शासको ने मलाबार के हिन्दू-नाट्यो की स्पर्द्धा मे चलाया। इसमे 'क्रूजेडो' के जमाने मे जेरूसलम के पास सलादीन और यूरोप के बादशाह चार्ल्स की सेनाओ के सघर्ष का दृश्य दिखाया जाता है। पोशाक मे मध्ययुगीन यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट है। चमक-दमक और भव्यता प्रचुर मात्रा मे थी। 'चाविट्टु नाटकम्' के नटो के लिए प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था होती है। मुझे आश्चर्य है कि इस पूर्णत भारतीय ईसाई नाट्य-परम्परा के विषय मे बहुत कम जानकारी है।

वैष्णव रगशाला : असम का 'अकिया नाट' :

इस पुस्तक मे असम के अकिया नाट का अनेक स्थलो पर जिक्र आया है। मेरा अनुमान है कि परम्पराशील रगशाला की सबसे अधिक सिलसिलेवार परम्परा अकिया नाट मे ही रही है। इस शैली का प्रवर्त्तन शकरदेव ने बडी सूझ-बूझ और योजना के साथ किया और यद्यपि अब यह एक उपेक्षित शैली है, तथापि परम्पराशील नाट्य के इतिहास मे इसका विशेष स्थान है।

मैने असम-घाटी के नवगॉव नामक नगर से ८-१० मील दूर बडदोवा नामक स्थान मे शकरदेव-विरचित 'रुक्मिणीहरण नाट' के कतिपय अशो का अभिनय सन् १९५९ ई० मे देखा। मै अकिया नाट की रगशाला (जिसे 'भाओनाघर' कहते है) का वर्णन पहले ही कर चुका हूँ। भाओनाघर मे रगस्थली के खेलो और दर्शको के लिए आसन बिछा दिये गये थे, जिन्हे सत्र, यानी मठ के भक्त ही बुनते है और जिन्हे 'कठ' कहा जाता है। वही पर हमलोग बैठे। इस प्रदर्शन के पूर्वरग मे मुझे एक विराट् परम्परा और कलात्मकता का आभास हुआ और यह भी स्पष्ट हुआ कि महापुरुष शंकरदेव ने भरत-नाट्यशास्त्र के आदेशो को अशत. पालन करने की चेष्टा की थी। नाट्यशास्त्र के अनुसार सबसे पहले प्रत्याहार होता है, यानी गान और वाद्यो द्वारा नाटक की भूमिका तैयार करना। पाश्चात्य रगमच मे इसे 'प्रोलॉग' की सज्ञा दी जाती है। अकिया नाट मे यह एक विराट् प्रक्रिया है। हमने देखा कि दोहर पर बडबायन (मुख्य वाद्यकार) और बडगायन (मुख्य गायक) बैठे। उनकी दोनों ओर गायक बैठे, जिनके हाथ मे पीतल के बडे-बडे झाँझ थे। इन झाँझो को वहाँ 'भोताल' कहा जाता है। हमे बताया गया कि 'भोताल' एक तिब्बती वाद्य के आधार पर बनाये गये थे और इसलिए शायद इनका मूल नाम 'भोटताल' था। गायको के पार्श्व मे कुछ नगाडे रखे हुए थे, जो मुख्य नाटको के समय कथानक की सन्धिविशेष अंकित करने के लिए बजाये जाते थे। सामने जो लीलास्थली थी, उसमें एक दूसरे के सामने दो पक्तियो मे बायन बैठे। दर्शक की ओर उनकी पीठ थी। दोनो पक्तियो के आगे एक व्यक्ति 'अरिया' यानी

मशाल लिये हुए था। बायनो की गरदनो से खोल (जो यहाँ के विशेष प्रकार के ढोल होते है), टँगे हुए थे। हर बायन सफेद धोती, कुरता अथवा चपकन तथा सफेद पगडी पहने हुए था। कमर मे जो दुशाला बँधा हुआ था, उसे 'गाठी-कापड' अथवा 'गुसाई-कापड' कहते है। वाद्यकार अपने पैरो मे नूपुर भी पहने हुए थे। हर वाद्यकार के लिए एक कठ अथवा आसन था। नृत्य प्रारम्भ होने पर वे आसन हटा दिये गये।

इन धवल श्रेणियो को देखकर सारे दर्शक-समाज मे उत्सुकतापूर्ण शान्ति छा गई। बायनो ने इसके उपरान्त अपने खोलो पर जो प्रदर्शन किया, उसे 'धेमाली' के नाम से पुकारा जाता है। धेमाली ही अकिया नाट का पूर्वरग है। किन्तु, जिस तरह के तालो मे धेमाली की रचनाएँ निबद्ध है, उसका ब्रज-मण्डल के धमार से बहुत-कुछ साम्य है। हो सकता है कि महापुरुष ने अपने लम्बे ब्रज-प्रवास मे अनेक धमारो को सुनने के बाद खोल पर धेमालियो का रूप निश्चित किया। किन्तु, इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि अकिया नाट के ताल-वाद्यो का प्रदर्शन मूलत असम की प्राचीन वन्य जातियो की कौशलपूर्ण ताल-परम्परा पर आधारित है। जो प्रदर्शन हमने देखा, उसमे लगभग २० वाद्यकार थे। किन्तु, हमे बताया गया कि प्रत्येक धेमाली मे ५० खोल बजानेवाले होते है। ऐसा प्रतीत होता है कि महापुरुष ने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से इन नाट-योजनाओ मे वन्य तथा अर्द्ध-वन्य जातियो की लोककला को भी समाविष्ट करने की चेष्टा की। असम की इस नाट-परम्परा के बराबर अन्य किसी नाट्य-परम्परा मे खोल-वादन को इतना महत्त्व नही दिया जाता। धेमाली जन-जीवन के विराट् तत्त्व का महान् स्वरूप है।

सहसा नगाडे पर सकेत हुआ। इस सकेत को सुनते ही बायनो की दोनो पक्तियाँ उठ खडी हुई और फिर थापना की ओर (जहाँ श्रीमद्भागवत की प्रति स्थापित थी) ये लोग बढे और बहुत ही गम्भीर गति से खोलो पर निनाद प्रारम्भ हुआ। श्रीमद्भागवत के प्रति इस भाँति आराधना प्रारम्भ करने के बाद बायन-मण्डली उस तरफ मुडी, जहाँ सत्र, यानी मठ के प्रमुख बैठे थे। इस गति को गुरुधाप अथवा गुरुघेटा कहते है। श्रीमद्भागवत की आराधना तथा गुरु की अभ्यर्थना दोनो करते समय बायन-मण्डली के सभी वाद्यकार एक साथ अपने दाहिने हाथ का स्पर्श करते थे।

धेमाली, यानी सामूहिक खोल-वादन एव गान मे विशेष क्रमानुसार कई रचनाएँ (हिन्दुस्तानी सगीत-पद्धति मे जिन्हे बन्दिश कहा जायगा) प्रस्तुत की जाती है। हमारे सामने जो धेमाली प्रदर्शित हुई, उसमे पहली रचना थी 'कारू धेमाली' अथवा 'सारू धेमाली'। यह विलम्बित गति मे एक लघु रचना थी। तदुपरान्त, 'बड धेमाली' बडी प्रभावशाली और गम्भीर .ति मे बजाई गई। तीसरी रचना का नाम था 'घोषा धेमाली', जिसमे राग सलोनी मे एक वृन्दगान भी निबद्ध था। द्रुत गति का प्राधान्य था और चरमोत्कर्ष भी। घोषा वस्तुत कीर्त्तन हैं, जिनको शकरदेव के शिष्य माधवदेव ने रचा, और जिन्हे 'नाम-घोषा' भी कहते है।

पहले कहा जा चुका है कि वाद्यकारो की पक्तियो के एक सिरे पर एक व्यक्ति 'अरिया' यानी मशाल लेकर खडा हुआ था, मानो बायनो को रास्ता दिखाता हो। घोषा धेमाली के बाद वह व्यक्ति चला गया, मानो मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता नही रही। घोषा

के उपरान्त 'मुडाखोला' नामक चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन हुआ। बडबायन, यानी प्रमुख वाद्यकार लीलास्थली के केन्द्र मे आया। लगभग दस खोल उसके चारो ओर भिन्न-भिन्न ढग से रखे गये, कुछ को तो तीन-चार व्यक्ति लटकाये हुए थे। इन सभी खोलो पर बडबायन ने बडी सफाई, कौशल और तीव्रगति से वादन किया और उसके लाघव को देखकर दर्शक-समाज चकित रह गया। इसपर मठ के सत्राधिकारी ने बडबायन को पुरस्कार-स्वरूप एक निर्माल्य और एक कलापूर्ण पुनीत वस्त्र दिया। मुख्य गायक, यानी बडगायन को भी इसी प्रकार का पुरस्कार दिया गया और अन्य सभी बायनो और गायनो को भी निर्माल्य दिये गये।

उसके बाद सभी बायन (वाद्यकार) शरासन मे बैठे और अपने-अपने खोल को उन्होने खडा कर दिया, तबले की तरह। कई चित्ताकर्षक रचनाएँ त्वरित गति से उन्होने उसी भाँति बैठे हुए प्रस्तुत की। अन्त में 'नवधेमाली' नामक रचना मे बायनो ने एक चक्राकार नृत्य किया और नृत्य के साथ-साथ वे लोग खोल भी बजाते रहे।

मुझे बताया गया कि हमारी सुविधा के विचार से धेमाली केवल ४५ मिनट तक ही प्रदर्शित की गई, वरना दो घण्टे से कम अवधि मे धेमाली का सम्पूर्ण और विधिवत् प्रदर्शन नही हो सकता। धेमाली मे दो विशेषताएँ थी। एक तो खोल बजाने के साथ-साथ उन्ही हाथो से बायन लोग नाना प्रकार की हस्तमुद्राएँ भी दिखाते थे। ये मुद्राएँ निश्चय ही **हस्तमुक्तावली** मे दिये गये निर्देशनो के अनुसार थी। दूसरे बायनो के पैरो मे बँधे नूपुर बराबर तालो के सकेत दे रहे थे, उन्हे अलकृत कर रहे थे। तालनृत्य का ऐसा सम्मोहक सामूहिक स्वरूप हमने अन्यत्र नही देखा। धेमाली का यह कार्यक्रम दूर-दूर से दर्शको को आमन्त्रित तो करता ही है, जो लोग मण्डप मे आ गये, उनकी चित्तवृत्तियो को मूलनाटक के लिए सावधान कर देता है। वातावरण के निर्माण मे धेमाली का वही स्थान है, जो पाश्चात्य 'ओपरा' मे 'ओवर्चर' का।

इसके बाद मुख्य अभिनय प्रारम्भ हुआ। रगस्थली से बायनो का समूह चला गया और वे गायनो के पीछे जाकर बैठ गये। गायन-बायन के बाई ओर जहाँ 'छघर' (नेपथ्य-गृह) था, दो व्यक्ति लकडी का एक सुचित्रित तोरण या मेहराब लेकर खडे हो गये। तोरण के नीचे दो और व्यक्ति एक पर्दे को फैलाकर खडे हुए। यही पर्दा 'आड-कापड़' था, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। तोरण पर कई मशाले एक साथ जला दी गईं और ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी मेहराब के ऊपर लपटो की पाँत लगा दी गई है। पर्दे के पीछे से एक सस्कृत-स्तोत्र सुन पडा और उसके बाद पर्दे को अपने हाथो से एक ओर हटाकर सूत्रधार सामने आया। जिस समय सूत्रधार पर्दे से बाहर होकर तोरण के नीचे से गुजर रहा था, उस समय तोरण पर जलाई गई मशालो या अरिया की उपयोगिता प्रकट हुई। प्रथम प्रवेश के समय ये ज्योतिपुज पात्र की आकृति, भाव-भगिमा और 'मेकअप' इत्यादि को सारे दर्शक-समाज के लिए प्रदीप्त कर देते है। यह एक तरह का ज्योतित परिचय है और प्रधान पात्र-पात्रियो के लिए ही इसका विधान है। इस ज्योतित तोरण को 'अग्निघेर' कहते है। जान पडता है कि लोक-नाटको के पात्रो के निकट मशाल लेकर खडे होने की जो पद्धति थी, उसी का कलात्मक रूप है 'अग्निघेर।'

सूत्रधार नृत्य करते हुए रगस्थली की ओर बढा। सूत्रधार की वेशभूषा इस नाट्य-पद्धति की प्राचीनता का द्योतक है। नीचे मध्ययुगीन लहँगे के ढग का लहरेदार वस्त्र था, जिसे 'घूरी' कहते है। इसका रंग सफेद था। ऊपर गुलाबी रग का एक जामा था—जामे की आस्तीन लम्बी और ढीली थी। इस जामे को 'गाठी-मेला' कहते है। कमरबन्द को 'गाठी-कापड' कहते है। सिर पर एक रगीन पगडी थी। यह पोशाक शकरदेव के समय से ही अपरिवर्तित है और इन नाटको मे सूत्रधार के महत्त्व की सूचक है।

सूत्रधार के लीलास्थली मे आते ही गायन-बायन ने नान्दी-पाठ प्रारम्भ कर दिया। नान्दी के विभिन्न अशो—देवी-देवताओ के स्वरूपो और उनके क्रिया-कलापो को सूत्रधार अपनी हस्तमुद्राओ द्वारा प्रदर्शित कर रहा था। मुद्राओ का अत्यन्त रोचक और सजीव प्रयोग नान्दी-पाठ के बाद 'भटिमा' मे सूत्रधार ही करता है। भटिमा एक तरह का स्तवन है और इसका पाठ लयपूर्ण तो होता है, किन्तु प्राय रागनिबद्ध नही। इसमे नाटक के नायक, यानी श्रीकृष्ण के पराक्रम और उनकी लीलाओ का प्रशसात्मक वर्णन था। सूत्रधार बोलता भी था और परम्परागत और शास्त्रोक्त ('हस्तमुक्तावली' के अनुसार) मुद्राओ का भी प्रयोग करता था। श्रोताओ और दर्शको से बोलते समय तो वह दाहिनी भुजा की कोहनी को बाई हथेली पर टेक कर दाहने हाथ को आशीर्वाद-मुद्रा मे हिलाता था।

इसके बाद थोडी देर के लिए कई वाद्य एक साथ बजाये गये और सूत्रधार ने सगी से पूछा कि 'हे सगी कौन वाद्य बज रहा है।' सगी ने उत्तर दिया कि 'देवदुन्दुभी बजती है।' सूत्रधार ने घोषित किया कि तब तो स्वय परमेश्वर श्रीकृष्ण पधारते है। हमने देखा कि सूत्रधार के पास कोई सगी नही खडा हुआ था। बाद मे हमे बताया गया कि बडगायन ही इस प्रश्नोत्तरी मे सगी के रूप मे हिस्सा लेता है, वह अपने स्थान से उठता नही है, वही बैठे-बैठे बोलता रहता है। यहाँ दो विशेषताएँ द्रष्टव्य है एक तो यह कि सस्कृत-नाटको की नटी के स्थान पर पुरुष 'संगी' का विधान किया गया है। दूसरे यह कि वाद्यो के प्रखर वादन से नायक और नायिका के आगमन की सूचना दी जाती है। इस तरह सूत्रधार और प्रमुख गायक तथा उसके माध्यम से नेपथ्यगृह के बीच तारतम्य रहता है। सूत्रधार ने नायक के प्रवेश के विषय मे इसके अतिरिक्त एक विरुदपूर्ण घोषणा की और कहा कि 'सभासद लोग, जिन श्रीकृष्ण का स्तवन मैंने किया है, वे इस सभा मे पधारते है, उनकी लीलाओ को शान्त रहकर देखो और सुनो।' हमने देखा कि सूत्रधार इस भाँति दर्शको पर अनुशासन भी रख पाता था और बार-बार दत्तचित्त होकर देखने और सुनने का अनुरोध करके उनका ध्यान कथा की ओर खीच पाता था।

श्रीकृष्ण के आगमन के लिए उसी तरह 'अग्निघेर' और 'आड-कापड' की व्यवस्था हुई, जैसे सूत्रधार के प्रवेश पर हुई थी। उद्धव का हाथ पकडे श्रीकृष्ण लीलास्थली की ओर बढे। कृष्ण लाल रग की धोती और कुरता पहने थे, सिर पर मुकुट और वक्ष पर 'तगाली' नामक रग-बिरगा और सुन्दर अगवस्त्र कसा हुआ था। हाथ भी लाल रग मे रँगे थे और एक हाथ मे चक्र था। नूपुर भी पहने थे। लीलास्थली मे आते समय कृष्ण (और उनके साथ उद्धव) ने 'प्रवेश-नृत्य' किया और उस नृत्य के साथ-साथ गायन-बायन ने उनकी महिमा मे गीत गाया। गीत मे जिस रूप, भगिमा इत्यादि का वर्णन था, उसे कृष्ण और

उद्धव नृत्य-मुद्राओ द्वारा प्रकट कर रहे थे—'नटवर बैसे', 'बदनइन्दु रुचि ईसत हासा', 'नयन पकज,' 'भुज लम्बित जानु' इत्यादि।

इस नृत्य के बाद सूत्रधार (जो गायन-बायन के निकट बैठ गया था) पुन आगे आकर बोला कि 'हे सभासद लोग, इस प्रकार श्रीकृष्ण प्रवेश करके एक तरफ (एक पास-हुया) विराजमान हो गये। अब तुमलोग रुक्मिणी का प्रवेश देखो और सुनो।' श्रीकृष्ण और उद्धव एक दूसरे का हाथ पकडे हुए आगे बढे और लीलास्थली के एक किनारे एक चौकी पर, जिसपर छोटा-सा मण्डप तना था, बैठ गये। यह मण्डप द्वारका के राजभवन का सूचक था और इसके आगे एक गदाधारी द्वारपाल भी खडा हो गया। इस मण्डप के ढग के तीन और मण्डप थे। एक तो भीष्मक की राजधानी कुण्डिनपुर मे राजदरबार का द्योतक था, दूसरा उन्ही के रनिवास का और तीसरा भवानी-मन्दिर का। सूत्रधार ने फिर सगी से पूछा—'कौन वाद्य बजा ?' उत्तर मिला—'देववाद्य।' सूत्रधार ने रुक्मिणी के सखियो-सहित आगमन की घोषणा की। पुन वही अग्निघेर और आड-कापड तथा प्रवेश-नृत्य और गायन-बायन द्वारा प्रवेश-गीत। रुक्मिणी के साथ तीन सखियाँ थी। वे मेखला पहने थी (कमर के नीचे के अगो को ढकनेवाली असमिया साडी) और ऊपर कचुकी और चादर। सोने-चाँदी के अलकार और चूडियाँ भी थी। दोनो ही प्रवेश-नृत्यो मे सख्य-भाव दीख पडा। रुक्मिणी सखियो-सहित रनिवासवाले मण्डप मे बैठ गई।

सूत्रधार ने कथासूत्र को आगे बढाते हुए सुरभि नामक भिक्षुक भाट के कुण्डिनपुर से द्वारका आने की सूचना दी। भाट साधारण व्यक्ति था, अत इस प्रवेश के साथ 'अग्निघेर' और 'आड-कापड' की व्यवस्था नही थी। भाट लाल पगडी और पीली धोती पहने हुए था और एक हाथ मे कमण्डल और दूसरे मे कागज का बना छाता लिये हुए था। उसकी वेशभूषा और भाव-भगिमा मे समसामयिक यथार्थता थी, जबकि प्रमुख पात्र-पात्रियो मे परम्परा का अनुसरण। इस तरह एक ही परिस्थिति मे दो विभिन्न रसो का सचार जान पडता। सुरभि भाट ने श्रीकृष्ण को अपना परिचय दिया और दोनो के बीच लघु सवाद के बाद सुरभि ने रुक्मिणी के रूप-गुण-वर्णन का पाठ किया। ऐसे पाठ को 'भटिमा' कहते है। हमने देखा कि कृष्ण-सुरभि का सवाद गद्य मे था और 'भटिमा' पद्य मे। सवाद का उच्चारण लय के साथ किया जाता था और हर तीन-चार शब्दो के बाद लघु विराम था और वाक्य-समाप्ति पर दीर्घ विराम। मेरा अनुमान है कि इस उच्चारण-पद्धति द्वारा प्रत्येक शब्द श्रोताओ पर स्पष्ट हो जाता था, यद्यपि यह लयात्मकता अस्वाभाविक जान पडती थी। भटिमा छन्दोबद्ध होते हुए भी गाई नही जाती। काव्यगुण हृदयग्राही थे ('बन्दुलि अधिक अधर करु काति। ओतिम मोतिम दसनक पाति।') और श्रीकृष्ण जिस भाँति इस वर्णन को सुनकर विह्वल हुए, उसमे रसनिष्पत्ति के अनेक तत्त्व, सचारी, व्यभिचारी, भावानुभाव इत्यादि की प्रगति दीख पड़ी।

इसी भाँति सूत्रधार की घोषणा के बाद द्वारका से कुण्डिनपुर-रनिवास मे दूसरे ब्राह्मण भाट हरिदास का आगमन दिखाया गया और रुक्मिणी के सामने श्रीकृष्ण का रूप-गुण-वर्णन। रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण के प्रेम मे विह्वल होकर जो गीत गाया, उसमे विरहो-

त्कण्ठिता नायिका के लक्षण स्पष्ट थे। सखियो के साथ वार्त्तालाप लय के साथ कहा गया, न कि स्वाभाविक वार्त्तालाप की तरह। वस्तुत, प्राय सभी गद्य वार्त्तालाप की शैली मे कहे गये--एक-एक शब्द स्पष्ट, हरेक वाक्य कुछ पदो मे विभक्त और हर पद के बाद लघु विराम।

सूत्रधार ने आगे आकर सूचना दी कि कुण्डिनपुर के नरेश भीष्मक पधारते है। राजा भीष्मक और रानी शशिप्रभा का प्रवेश उन दोनो के पद और आयु के अनूकूल था। उन लोगो ने नृत्य नही किया, वरन् मन्थर और राजोचित गति से आगे बढे। भीष्मक की वेशभूषा थी धोती, लम्बी चपकन, जिसपर सलमे-सितारे का काम था, तथा राजसी पगडी। साथ मे ज्ञातिलोग (अर्थात्, राजा के पार्षद) भी आये। सवाद मे राजा और राजमहिषी ने रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण से करने का निश्चय प्रकट किया। रुक्मिणी की सखी लीलावती पास खडी थी और फिर वह रनिवास के मण्डप मे गई और यह शुभ समाचार रुक्मिणी को सुनाया। सूत्रधार ने कहा कि आपलोग देखिए कि इस समाचार को सुनकर कैसे आनन्दमग्न हो रुक्मिणी नृत्य करती है। उसी रगस्थली के एक ओर राजसभा और पार्श्व मे रुक्मिणी का सोल्लास नृत्य और गान हुआ।

सूत्रधार की घोषणा के बाद भीष्मक के पुत्र रुक्म का प्रवेश हुआ। उसकी प्रवेश-भगिमा और चाल बिलकुल भिन्न थी। वह जमीन पर जोर-जोर से पदाघात करता हुआ और अपने खड्ग को हिलाता हुआ आया। स्पष्ट है कि पात्र की चारित्रिक विशेषताओ के अनुसार प्रवेश-मुद्राओ का निर्धारण अकिया नाट-पद्धति का महत्त्वपूर्ण अग है और उनके द्वारा विभिन्न रसो का सचार सहज ही हो जाता है। रुक्म का दर्प उसकी कर्कश वाणी और उद्दण्ड चेष्टाओ मे लक्षित था। पिता-पुत्र का संवाद और स्वयवर का निश्चय--इसे सुनकर सखी ने रुक्मिणी को दु ख-समाचार दिया। उल्लासपूर्ण नृत्यगान के विपरीत विरहतापमग्ना रुक्मिणी का दूसरा नृत्य, उसकी गिर-गिर पडने की भगिमा, सभी ने दर्शको की भावभूमि को पुन बदल दिया। आधुनिक दृष्टिकोण से विलाप-गान लम्बे और अस्वाभाविक जान पडे, किन्तु दर्शको पर उनका प्रभाव स्पष्ट था। रुक्मिणी की विभिन्न मुद्राओ और चेष्टाओ का वर्णन सूत्रधार बार-बार सामने आकर करता था। इधर भीष्मक इत्यादि दूसरे मण्डप मे बैठ गये थे। मैने देखा कि एक ओर तो रुक्मिणी का विप्रलम्भ-गान हो रहा था और दूसरी ओर स्वयवर के लिए आनेवाले राजाओ के लिए आसन रखे जा रहे थे।

करुण रस के प्रवाह मे लघु विराम के तुल्य एक विनोदपूर्ण परिस्थिति का आरोपण हुआ। रुक्मिणी सखी से कहती है कि हमारे शुभचिन्तक वेदनिधि ब्राह्मण को बुला लाओ। यद्यपि लिखित नाटक मे वेदनिधि की चारित्रिक विशेषताओ अथवा व्यवहार का कोई सकेत नही है, तथापि अभिनय मे उसे परिहास और विनोद के माध्यम के रूप मे प्रस्तुत किया गया। रुक्मिणी अपनी व्यथा का वर्णन करती है उसी परम्परागत लयात्मक ढग से; किन्तु वेदनिधि उत्तर देता है रोजाना की बातचीत के ढग से। उसकी भगिमा, उच्चारण, मुद्राएँ, समसामयिक जीवन से मेल खाती है। रुक्मिणी का वेदनिधि को द्वारकापुरी भेजना, वेदनिधि की लम्बी यात्रा, उसका श्रीकृष्ण से निवेदन, उसके कुण्डिनपुर लौटने मे विलम्ब रुक्मिणी की बेताबी, विरह-वेदना और बार-बार मूर्च्छित होना--इन सारे प्रसगो के

प्रस्तुतीकरण मे दो विभिन्न रसो—करुण और हास्य का अद्भुत विपर्यय ('कण्ट्रास्ट') दिखाया गया। कभी दर्शको के मन मे तनाव होता, कभी ढील। वेदनिधि कुण्डिनपुर से द्वारका जाता है, तो लीलास्थली मे एक मण्डप के पाँच गज के फासिले मे कई बार ऐसे चक्कर लगाता, मानो मीलो चल रहा हो और कभी दौडता, कभी हाँफता, कभी थकान का आभास देता। दर्शको का खासा मनोरजन हो रहा था।

इस बीच रगस्थली मे एक-एक करके राजा लोग स्वयवर के लिए आये। हरेक राजा का प्रवेश करने का ढग निराला था और इस प्रदर्शन मे बहुत कुछ 'पैण्टोमाइम' (मूकाभिनय) की झलक दीख पडी। वस्तुत, चेष्टाओ द्वारा पात्र के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भारतीय अभिनय-शैली का विशेष अग है।

यहाँ सम्पूर्ण कथानक का विवरण करना तो अनावश्यक होगा, किन्तु प्रदर्शन मे कुछ स्थल मनोरजक और उल्लेखनीय थे। श्रीकृष्ण स्वयवर मे आने के लिए राजी हो जाते है। मण्डप से उठकर कृष्ण 'छघर' (नेपथ्यगृह) मे गये। वहाँ से कागज, कूट और कपडे का बना हुआ रथ दर्शको के पीछे से थापना के निकट से लाया गया है। यह चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन (स्पेक्टेटिकल) का नमूना था और नाटक तथा शिल्पकला के परम्परागत सम्बन्ध का उदाहरण। सूत्रधार रथ की तीव्र गति का वर्णन करता है और वेदनिधि ब्राह्मण तेजी को सहन न कर सकने से अचेत हो जाने का अभिनय करता है। यह बडा रोचक प्रसग था।

इधर भवानी की पूजा के लिए रुक्मिणी जाती है और पूजन भी यथावत् दिखाया गया। जब पूजन के बाद रुक्मिणी सखियो-सहित राजसभा मे आई, तब उसके सौन्दर्य से विमोहित होकर राजे लोग जैसा व्यवहार करते है, उसका सूत्रधार वर्णन करता है और तदनुसार राजे लोग चेष्टाएँ करते है। वर्णन और अभिनय का यह तारतम्य कुशलता से निवाहा गया और इस प्रसग मे दर्शक-समाज का मनोरजन भी होता है। सखियो-सहित रुक्मिणी के मन्दिर और राजदरबार मे जाने की गति भी एक तरह का मन्थर-नृत्य जान पडता है। और उस समय भी गायन-बायन गीत गाते है—**रंगिनी सखि संगिनी बाला। चलति जैसे चांदकेरि कला।** इस तरह चलने के ढग को लीलागति मे चलना कहा जाता है।

सभा के बीच मे से कृष्ण के रुक्मिणी को हरकर रथ की ओर ले जाने पर शिशुपाल एव अन्य राजाओ की उत्तेजना को दिखाने के लिए वह विशाल रगस्थली विशेष उपयुक्त थी। युद्ध का प्रदर्शन प्रभावशाली था; क्योकि द्वन्द्वयुद्धो की चेष्टाओ के अनुसार वाद्यकार लय और ताल देते जाते थे, गायक बीच-बीच मे घोर युद्ध का गीतो मे वर्णन करते थे और सूत्रधार नवीन प्रसग की घोषणा करके कथानक को आगे बढाता जाता था। द्वन्द्वयुद्ध मे योद्धा गोलाकार दायरे मे युद्ध कर रहे थे। विजयोपरान्त रुक्मिणी के निवेदन पर कृष्ण ने रुक्म को मारा तो नही, किन्तु जिस भाँति उसकी दाढी उखाडकर उसके मुख पर कालिख पोती—इस प्रसग ने रौद्र रस के बाद पुन हास्य रस का सचार किया। तदुपरान्त रुक्मिणी-श्रीकृष्ण-मिलन मे शृंगार रस उमडा। विवाह-प्रसग मे ब्रह्मा का रुक्मिणी के सौन्दर्य से विमोहित होकर मूर्च्छित होना—यह पुन हास्य का प्रेरक हो गया। इस भाँति रौद्र, हास्य और शृंगार रस के एक साथ सचार के फलस्वरूप कथानक मे नवीनता न होने के

और न धार्मिक प्रतिबिम्बो के कारण बाहरी प्रभावो से सर्वथा विलग रहती है। इसीलिए, उसमे पुरातन की मणियाँ भी, धूलिधूसरित ही सही, मिल जाती है, और नये अलकार का भी अभाव नही होता। यदि कमी है, तो परिष्कार, सज्जा और सुसंस्कृत साहित्य की। भोंडे और अव्यवस्थित लोक-रगप्रदर्शन मे भी अध्येता को मध्ययुगीन रगमच की धरोहर के दर्शन हो सकते है, यह 'बिदापत नाच' के निम्नलिखित वर्णन से सिद्ध हो जाता है।

बिदापत नाच उत्तर बिहार की अल्प-परिचित प्रदर्शन-विधा :

बिहार के पूर्णिया जिले मे 'बिदापत नाच' इस नाम से एक आचलिक नाटक की परम्परा है। इसमे मध्ययुगीन मिथिला के कीर्त्तनियाँ नाटक तथा असम के अकिया नाट, दोनो की झलक दीख पडती है। मण्डलियो मे प्राय किसान और मजदूर होते है—अधिकतर हरिजन-वर्ग के।

सन् १९६० ई० मे पूर्णिया जिले के झिरवा नामक गाँव मे आकाशवाणी, पटना-केन्द्र की ओर मे श्रीफणीश्वरनाथ 'रेणु' ने उस गाँव की एक मण्डली द्वारा प्रस्तुत 'पारिजात-हरण' नामक नाटक के कुछ अशो के रेकार्डिंग किये। उस सिलसिले मे 'बिदापत नाच' की पद्धति के विषय मे कई रोचक बातें ज्ञात हुई। 'पारिजातहरण' नामक नाटक विद्यापति का लिखा नही, बल्कि उमापति उपाध्याय का लिखा हुआ है। मिथिला और नेपाल के कीर्त्तनियाँ नाटको मे यह काफी पुराना है और इसका रचनाकाल सन् १३२५ ई० के आसपास माना जाता है। 'पारिजातहरण' के ही नाम से महापुरुष शकरदेव ने असम मे १५वी सदी के आसपास एक दूसरा नाटक लिखा, जो रगमचीय तत्त्वो मे उमापति उपाध्याय के नाटको की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। झिरवा गाँव के जनकदास की मण्डली ने जो 'पारिजातहरण' खेला, उसके लेखक का नाम वे नही दे सके। किन्तु, जान पडता है कि उसमे दोनो ही नाटको का सम्मिश्रण है। मच और अभिनय-परम्परा मे असमिया अकिया नाट का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। किन्तु, चूँकि कीर्त्तनियाँ नाटक के अभिनय की कोई और परम्परा ज्ञात नही है, इसलिए पूर्णिया जिले की इस परम्परा मे ही शायद कीर्त्तनियाँ के अवशिष्ट चिह्न विद्यमान है।

मण्डली के नेता जनकदास है और अन्य उपनेता मूँगीलाल है और मोहनलाल। नेता को 'मूलगाइन' कहते है। ध्यान देने की बात है कि असमिया अकिया नाट मे भी प्रधान गायक को मूलगाइन कहते है। असमिया अकिया नाट मे वाद्यकार के लिए एक और शब्द है बायन। सम्भव है, यहाँ भी यह शब्द प्रचलित रहा हो। 'मूलगाइन' के साथियो को 'समाजी' भी कहा जाता है।

जिस स्थान पर पात्र अपनी सज्जा करते है, उसे यहाँ 'साज-घर' कहा जाता है। इसकी तुलना असमिया-नाटक के 'छघर' या 'छद्मगृह' से की जा सकती है।

नाटक प्रारम्भ होने से पहले मृदग और खोल के ऊपर काफी देर तक सामूहिक वादन होता है। इसे यहाँवाले 'जमीनिका' कहते है। 'जमीनिका' का अर्थ है भूमिका और

निश्चय ही यवनिका-उत्थान मे जो वाद्यवादन और गान होता है, उसी का नाम यहाँ 'जमीनिका' होगा।

'जमीनिका' के बाद नाटक के प्रारम्भ मे भगवती-वन्दना और तदुपरान्त अन्य देवताओ की वन्दना होती है। भगवती-वन्दना विद्यापति-रचित है और चूँकि प्रत्येक नाटक के प्रारम्भ मे यह वन्दना प्रस्तुत की जाती है, इसलिए यह जान पडता है कि इस प्रकार के नाटको को गाँव मे 'बिदापत नाच' कहने लगे। इस वन्दना का नेतृत्व भी मूलगाइन करते है। मृदग प्राय मौन रहता है और शब्द बहुत स्पष्ट। सभी वन्दनाएँ वर्त्तमान-लोकगीतो के स्तर से उच्च जान पडी। भगवती-वन्दना के बाद गुरु-वन्दना और लक्ष्मी-वन्दना भी कही गई।

इसके उपरान्त, 'पारिजात नाटक' का परिचय दिया जाता है विकटा, यानी विदूषक तथा नायक के बीच एक सक्षिप्त सवाद के माध्यम से। इस सवाद मे नायक विदूषक को बताता है कि हमलोग भडैती करने के लिए जमा नही हुए है, बल्कि 'पारिजात-हरणनाटक' दिखाने के लिए। विदूषक पारिजात को 'परजात' समझता है और कहता है तुमलोग हमारी जात बदलने के लिए आये हो ?

कुछ इसी ढग की छेडछाड के बाद 'गणेश-सुमिरन' गाया जाता है। विघ्नहरण देवता गणेशजी का स्मरण प्राय सभी लोकनाटको मे किया जाता है—चाहे दक्षिण भारत मे, चाहे उत्तर भारत मे।

बिकटा को घुँघरुओ की आवाज सुनाई पडती है। पूछने पर नायक उसको बताता है कि राधिकाजी सखियो के साथ आ रही है। 'पारिजातहरण' मे राधिकाजी सखियो के साथ आ रही है, यह कैसी अजीब बात है। नायक समझाता है कि हमारे किसी भी नाटक मे रासनृत्य होना आवश्यक है और रासनृत्य राधिकाजी और उनकी सखियाँ ही कर सकती है। राधा और उनकी सखियाँ आती है और तब एक सामूहिक नृत्य के साथ दो पद, जिन्हे विद्यापति के पद कहा गया है, नृत्य के साथ-साथ गाये जाते है। दो पदो मे से एक तो निश्चय ही विद्यापति का है। यह भी स्पष्ट है कि इन पदो का साम्य आजकल की होली और चैती धुनो से है।

यह रासनृत्य एक दूसरी प्राचीन परम्परा का अवशिष्ट चिह्न है। निस्सन्देह, जयदेव के 'गीतगोविन्द' ने जिस तरह के रासनृत्यो की परम्परा चालू की, वह विकृत रूप मे ही सही, इन कलाकारो ने अपने ढग से सुरक्षित रखी है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'बिदापत नाच' मे विद्यापति के नाम, जयदेव के वृन्दगान तथा असमिया-अकिया नाट एव मैथिली कीर्त्तनियाँ नाटक सभी का सम्मिश्रण है।

अब 'पारिजातहरण' नाटक का मुख्य कथानक प्रारम्भ होता है। कृष्ण आते है और उनके थोडी देर बाद नारद। इन दोनो के प्रवेश की कथा कविता मे कही जाती है। नारद का सिर घुटा हुआ है, धोती पहने हुए है और हाथ मे छिपाकर पारिजात का फूल लिये हुए है। कृष्णजी के पीछे-पीछे जरी की साड़ी पहने हुए रुक्मिणीजी का प्रवेश होता है। पद्य के बीच-बीच में गद्य मे सवाद चल पड़ता है।

कृष्ण पूछते है कि किस कारण हमारे चारो ओर एक दैवी सुगन्ध फैल गई ? नारद हाथ खोलते है और अपने हाथ मे छिपाये हुए पारिजात के फूल को सामने कर देते है। पारिजात की प्रशसा मे सामूहिक गीत गाया जाता है। नारद कृष्णजी को फूल अर्पित कर देते है। कृष्ण पूछते है कि यह फूल किसे दूँ। नारद का उत्तर है कि फूल लेने के लिए तो सत्यभामाजी ने कहा था, किन्तु चूँकि रुक्मिणीजी यही मौजूद है, तो फूल क्यो न उन्ही को दे दिया जाय।

कृष्ण पारिजात-पुष्प को रुक्मिणी के हाथ मे दे देते है।

रुक्मिणी अपने को धन्य मानती है। गीतो के सहारे कथा आगे बढती हे। इधर लीलास्थली पर सत्यभामा की दासी जाती है और उसके कानो मे भनक पडती है कि पारिजात-पुष्प रुक्मिणी को दे दिया गया है।

रुक्मिणी शब्द का उच्चारण 'रुकुनि', इस रूप मे किया गया है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि असमिया नाटक के कुछ गीतो मे भी 'रुकुनि' रूप का ही व्यवहार होता है।

सत्यभामा का प्रवेश और कुछ झिझक के बाद, मन्थरा की भाँति दासी, सत्यभामा को पूरी कथा सुनाती है और उसके कान भरती है।

सत्यभामा क्रुद्ध होकर नारद को बुलाने को कहती है। नारद पहले से ही मौजूद है और कहते है कि यह सब श्रीकृष्ण की नासमझी है। पारिजात उन्हें रुक्मिणी को नही देना चाहिए था। सत्यभामा कोप-भवन मे चली जाती है।

कृष्ण का प्रवेश और नारद का उन्हे सारी कथा सुनाना। नारद कहते है कि यह फूल आप सत्यभामा को दे दीजिए। वे कोप-भवन मे पडी है। कृष्ण रुक्मिणी की ओर देखते है। रुक्मिणी कहती है कि हे मुरारि, मै हरगिज यह फूल नही दूँगी।

इसके उपरान्त कृष्ण रगस्थली मे सत्यभामा के पास जाते है, जहाँ वे अपने आभूषण इधर-उधर फेके बैठी है। मूलगाइन सत्यभामा के रूठने और कृष्ण का उन्हें मनाने का बडा सजीव वर्णन गीत के रूप मे करता है। कृष्ण-सत्यभामा-सवाद इस नाटक का उल्लेखनीय अश है—पहले गद्य मे, बाद मे गीतो मे।

कृष्ण वायदा करते है कि पारिजात फूल क्या, वे पारिजात-वृक्ष ही सत्यभामा के लिए लाकर उपस्थित कर देंगे। सत्यभामा प्रसन्न हो जाती है और फिर आभूषण पहनते हुए भवानी की वन्दना करती है। इस वन्दना-गीत की धुन मे राजस्थानी लोक-गीतो की स्पष्ट प्रतिध्वनि है।

कृष्ण नारद को गद्य मे आदेश देते है कि वे इन्द्रपुरी जाकर इन्द्र से पारिजात-वृक्ष देने का अनुरोध करें। नारद सन्देह प्रकट करते है, लेकिन कृष्ण के बार-बार कहने पर चल देते है।

कृष्ण का सन्देश सुनकर इन्द्र उनके अहकार की भर्त्सना करते है। गद्य और गीत मे सवाद चलता है। इन्द्र कहते है कि वे किसी भी हालत मे पारिजात-वृक्ष देने को तैयार नही है।

जब नारद कृष्ण के पास वापस जाते है, तब कृष्ण पूछते है कि क्या हुआ ? नारद कहते है कि मत पूछो, मत पूछो,। इन्द्र ने तो हमारी जीभ पकडकर खीचने की धमकी दी।

मूलगाइन सगीत मे कृष्ण के क्रोध का वर्णन करते है और यहाँ पर मृदग की जगह खोल का प्रयोग होता है।

कृष्ण गरुड को आज्ञा देते है कि सेना तैयार करो। इसके उपरान्त रगस्थली मे कृष्ण की सेना का आगमन होता है। मूलगाइन इस सेना का वर्णन करते है और यहाँ पर गद्य मे बोलते है। मार्के की बात यह है कि गद्य मे मूलगाइन द्वारा वर्णन कुछ वैसी ही शैली मे किया जाता है, जैसे अकिया नाटको के सूत्रधार द्वारा।

कृष्ण की सेना मुखौटे पहने हुए जाती है। इसी तरह के मुखौटे इन्द्र तथा अन्य देवताओ के लिए असमिया के 'भाओनाघर' मे मिलते है। दक्षिण भारत के नाट्यो मे पात्रविशेष मुखौटे धारण करते है। उस समय सामाजिक जो गीत गाते है, उसकी गति त्वरित है और यहाँ 'मार्चिग साँग' की-सी ध्वनि मिलती है। इस धुन की कुछ लटक वैशाली के मछुआ लोगो के गीतो मे भी मिलती है।

इसके बाद रगस्थली पर एक वृक्ष की डाली दीख पडती है। यह पारिजात-वृक्ष है। मुखौटा पहने एक दूत खडा है, जो उसकी रक्षा कर रहा है। कृष्ण की सेना उसको मार भगाती है।

दूत इन्द्र के पास जाकर शिकायत करता है। इन्द्र अब अपनी सेना लेकर निकलते है और साथ मे शची भी है।

एक तरफ इन्द्र, शची और उनकी सेना तथा दूसरी ओर कृष्ण, सत्यभामा तथा उनकी सेना। मूलगाइन गद्य मे बताता है कि अब सत्यभामा और शची 'कैसन जवाब देत है, ये जवाब सवाल सुनिया'। युद्ध होने से पहले सत्यभामा और शची का एक दूसरे को जली-कटी सुनाना नाटक का रोचक प्रसग है। मिथिला के गाँवो मे औरतो का हाथ चमका-चमकाकर लडने का अभिनय इस स्थल पर मिलता है।

तदुपरान्त इन्द्र और उपेन्द्र (कृष्ण) का युद्ध शुरू होता है। युद्ध के साथवाला सगीत अत्यन्त उपयुक्त है। युद्ध मे भाग लेनेवाले लोग मुखौटा पहने हुए है।

इन्द्र का वज्र विफल होता है। इन्द्र शकर का ध्यान करता है। शकर भगवान् मय गणो के रगस्थली पर जाते है। गण मुखौटा पहने हुए है। गणो का नृत्य 'शकर भोले !'— इन शब्दो के साथ मेल खाता है।

शकर डमरू बजाकर दोनो को आदेश देते है कि इन्द्र और विष्णु तो भाई-भाई हैं, झगडा क्यो होता है। इन्द्र कहते है कि विष्णु हमें भाई माने तब तो ?

शकर कहते है कि इसमे गलती तुम्हारी है, तुम क्षमा माँगो। साथ ही, शकर रुक्मिणी और सत्यभामा को भी समझाते है। अन्त मे इन्द्र और उपेन्द्र गले मिलते है और मंगलगान के रूप मे मूलगाइन गाते हुए कहते हे कि जो 'पारिजातहरण' की इस कथा को

सुनेगा, उसका जीवन सफल होगा। इसकी तुलना असम के शकरदेव के नाटको के अन्त के पदो से की जा सकती है। इस अन्तिम पद मे गुणीजनो के प्रति भी कुछ शब्द कहे जाते है।

इस अभिनय की दो चार बाते विचारणीय है—

(क) नाटक मच पर नही, बल्कि दर्शको के बीच एक लीलास्थली मे प्रस्तुत किया गया, जिसके दोनो ओर दर्शक बैठे हुए थे। 'साजघर', यानी 'ग्रीन रूम' कुछ दूरी पर होता है।

(ख) गीतो का साहित्य-पक्ष तो उत्कृष्ट है ही, उनके रागो मे विविधता और नाटक की परिस्थिति और गति के अनुसार तालो का प्रयोग है।

(ग) नाटक किसका लिखा हुआ है, यह ग्रामीण कलाकारो को ज्ञात नही, किन्तु उसके पद निश्चय ही मध्ययुगीन साहित्य की परपरा मे है।

(घ) गद्य कुछ तो परम्परागत और कुछ समसामयिक होता है। परम्परागत गद्य वह है, जिसमे मूलगाइन सूत्रधार की भाँति किसी परिस्थिति-विशेष मे दर्शको को सम्बोधित करता है, जैसे कृष्ण की सेना के आगमन के समय मूलगाइन द्वारा सेना का वर्णन। दूसरी तरह के गद्य का प्रयोग उस समय होता है, जिस समय कथानक मे किसी नई घटना अथवा मोड का सकेत करना अभीष्ट है। उदाहरणत., जब कृष्ण नारद को इन्द्रपुरी भेजते है, तब 'ऐक्शन' को आगे बढने के लिए गद्य का प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दो मे गद्य कथानक की प्रगति का वाहन है।

(ड) युद्ध अथवा अन्य प्रकार की तीव्र भावना के उन्मेष की ओर दर्शको का ध्यान आकृष्ट करने के लिए कभी-कभी एक साथ मृदग पर थाप दी जाती है, जैसे नारद की बात सुनने पर इन्द्र जब आवेश मे आता है, तब मृदग की थाप सुन पडती है। यह तरीका लगभग सभी प्रकार के परम्पराशील नाटको मे दृष्टिगोचर होता है, किन्तु खास तौर से नौटकी मे। नाटक के प्रारम्भ मे प्रस्तावना, वन्दना और अन्त मे मगलगायन, इस परम्परा का सम्बन्ध पुरातन सस्कृत-नाटको से स्थापित करता है। इसमे कोई सन्देह नही कि 'बिदापत नाच' मे मिथिला के कीर्त्तनियाँ नाटक और असम के अकिया नाटको की परम्परा विकृत रूप मे ही सही, विद्यमान है।

× × × ×

परम्पराशील रंगशाला का विस्तार हमारे देश की विशाल सीमाओ और विविध रंगतो के अनुकूल ही है और जितने प्रदर्शन मैने देखे है, उनसे मुझे उसका स्पर्श-मात्र ही मिल सका। फिर भी, यदि मै उन सभी प्रकार के प्रदर्शनो का विवरण दूँ, जो मै

देख सका हूँ, तो अलग ग्रन्थ की ही व्यवस्था करनी पडेगी। रासलीला, जात्रा, भवई, तमाशा, रामलीला इत्यादि सुप्रसिद्ध विधाओ के रगमच के विवरण के लिए तो अलग-अलग ग्रन्थ चाहिए। अत , यहाँ मैने कुछ बानगी ही प्रस्तुत की है।

एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। यह जरूरी नही कि इन रग-प्रदर्शनो से सभी पाठको का मनोरजन हो सके। परम्पराशील रगशाला शहरी जीवन के अभ्यस्त प्रेक्षक के लिए ऊब पैदा करनेवाली हो सकती है। जो इस वातावरण मे रम जाने के लिए प्रस्तुत नही है, उसे निश्चय ही उलझन महसूस होगी। दूसरे, लगभग सभी परम्पराशील रग-प्रदर्शनो मे एक ओर बेहद सादगी और बाल-सुलभ रूपरेखा होती है और दूसरी ओर परम्परा से प्राप्त साकेतिकता और परिपक्वता। अक्सर आधुनिक शिक्षित नगरवासी प्रेक्षक इस रगशाला के उसी सरल और अपरिष्कृत प्रतीत होनेवाले बाह्य को देख पाता है; क्योकि परिपक्व और साकेतिक अभिव्यजना को समझने के लिए जिस सहानुभृति और सहृदयता की आवश्यकता है, उसके लिए प्रयास और सस्कार अपेक्षित है।

परम्पराशील नाट्य-साहित्य के नमूने

परम्पराशील नाट्य-साहित्य न पूर्णत मौखिक है और न पूर्णत लिखित। वस्तुत मौखिक लोक-साहित्य और लिखित साहित्य के छोरो के बीच इन नाट्यो की सामग्री कही सर्वागपूर्ण पाण्डुलिपियो, कही रग-सकेतो से विहीन सवाद-लिपियो, कही केवल गीत-सग्रहो और कही मौखिक रूप मे बिखरी पडी है। भाषा क्षेत्रीय और आचलिक है और कही-कही स्थानीय। अत, इन नाटको का साहित्यिक मूल्याकन उस तुलनात्मक पद्धति से नही किया जा सकता, जो मैने परम्पराशील रगशाला, कथावस्तु एव सगीत-नृत्य के विवरण मे अपनाई है। अत, यहाँ मै कुछ नाटको से ऐसे प्रसगो को नमूने के तौर पर दे रहा हूँ, जिनमे पाठको को स्वय इनकी साहित्यिक और काव्यात्मक विशेषताओ का आभास मिल सके। अन्त मे, मैने एक ऐसी प्रदर्शन-विधा (उत्तर विहार का 'जट-जटिन') का विवेचन किया है, जो अन्य परम्पराशील-नाट्य विधाओ की तुलना मे लोक-साहित्य पर ही मूलत आधारित है।

मेलात्तूर का भागवतमेल :

भागवतमेल का सर्वप्रिय नाटक है 'प्रह्लादचरित' अथवा 'नृसिहावतार'। इसके दो प्रसग (मूल और हिन्दी-अनुवाद) उसी रूप मे दिये जा रहे है, जिसमे मैने उनका अभिनय मेलात्तूर ग्राम मे देखा था। मूल मे 'वचन' को छोडकर अन्य अश पद्य मे है, किन्तु हिन्दी-अनुवाद समूचा गद्य मे है।

हिरण्यकशिपु, लीलावती और प्रह्लाद के प्रथम प्रवेश का दृश्य

वचनम्

अन्तट त्रिलोककण्टकुण्डैन हिरण्यकशिपु वच्चे मार्गम्बु पराक्॥

दरुवु—देवगान्धारि-आदि।

वेडलेनम्मा हिरण्यासुरुडिदिगो वेट्क मीरग निपुड्डु॥ आ॥ कड्डुवडिदनुजुलुजेरि अट्टुकम्मु कोनि मुदमु मीरि अड्डुगड्डुगुकु मड्डुगुलु परुवग धरलो नमितपराक्रम विक्रमु डनगा॥ चा॥ असुरमन्त्रु लिरुगडल हस्त-लागीयगानु असमान चामरमु लौसुगा वीवगानु वसुमति लोपलनु सटिव्वरुगलरे अनुचुनु इतनि दशदिसलनु चाल पोगडगनु

वचन

तब त्रिलोककण्टक हिरण्यकशिपु का आगमन है। सावधान!

दरुवु—देवगान्धारि आदि

अब यही, यही, कान्ति से चमकनेवाला हिरण्यकशिपु आ गया है। उसके आगमन की पद्धति देखे

बहुत-से असुरो से घिरे हुए, वह बार-बार सोल्लास इस भाँति घोषणा करता है—"भूमि पर मै ही अमित पराक्रम विक्रम हूँ।" अपने दोनो तरफ उन असुर-मन्त्रियो से, जिनके हाथो से अनुपम चँवर डुलाई जा रही है, वह यह भी पूछ

दानव घौरेयुडु तानगुचुनु वसुधातल मल्लोलरेमै अदरग वैरुलेल्ल गुमुलुगूडि बदरग ।।

•

लेता है कि मेरे समान इस भूमि पर और कोई हो सकता है? दसो दिशाओ के लोगो से प्रशसित, वह घोर दानव वसुधातल को कम्पित कर सभी शत्रुजनो को भगाते हुए, आ रहा था।

वचनम्

अन्तट हिरण्यकशिपु पट्टपु राणियैन लीलावती वच्चे मार्गम्बु एविधान नष्टेनु ।।

वचन

तदनन्तर हिरण्यकशिपु की पट्टमहिषी लीलावती पधारती है। उसका विधान यो है

द्विपदा

अरितमु खमु सौर गुरुसति मारुवरुनि अन्दमुगरु घरमुद्गारु सरसिजम्बुलनेलुचाल नेत्रमुलु मारुनि चापम्बुलु मगुव कनुबोम्मलुतलु-कुनीलम्बुलु तरुणि मुगुरुलु चेलि चिलुक पलुकुलु चिन्दुतेनेयुलु अलरुकेम्पुलु ठालु अतिवौडुठीलु अलमले मोग्गलु अमरु वज्रमुलु दाडिमवित्तुलु तगुनु दन्तमुलु पैडिरे कुलकान्ति वरगु चेक्किवकु अगननु दूजोगअलचद्ररेखा बगारु कुसुममु पडति नासिकमु मेरु गेपिन शखम्बु मेलति गलम्बु तरुचयिन कोण्डलु दन्तिकुम्ममुलु अपरचि कुण्डलु अति वे स्वनु गवयु चपलाक्षि नुगारु चीमलबारु सैकतम्बुल-नेलु सतिजघनमु नयमोप्प रम्भलु ननबोणि तोडलु केन्दामरल वण्टि गरित पादुमुलु सुन्दरु ललोमेलु सुगुणालवाल पम्मिन प्रभनोप्पु बङ्गारु बोम्म बोम्मककादिदि कलुव पूवुलबन्ति बन्तिकादिदि पचबाणुनि दन्ति दन्तिकादिदि मेण्डु तलुकुलमिचु मिचुकादिदि मुट्ठुमेटि राहस हसकादिदि मचि अमृतम्नु सोन सोनकादिदि कम्मचुण्टिय तेने तेनेकादिदि चाल तीरयिन चेलुव चेलुवकादिदि विकसिचु चेंगलुव कलुवकादिदि अल्ल कन्दर्पशरमु शारमुकादिदि वाणि रसिंवचु वीण वीणकादिदि सर्वविद्यल चाण

द्विपदा

देवगुरु की पत्नी के उपपति चन्द्र के समान मुखकान्तिवाली, कमलो पर शासन करनेवाले जिसके नेत्र है, मदनचाप जैसे भ्रुव, इन्द्रनील मणि की छवि जैसे नील अलक, शुक-शावक के समान मधुमय वाणी, चमकीले पद्मराग के समान अधर, मल्लिका-मुकुल, वज्र, और दाडिमबीज के समान चमकनेवाले दन्त, शोभायुक्त स्वर्णपत्र जैसे कपोल, चम्पा के फूल के समान नासिका, शाणोल्लीढ शख के समान ग्रीवा, निबिडगिरि, जयकुम्भ तथा स्वर्णकुम्भ जैसे स्तनयुग्म, चीटियो की पक्ति जैसी रोमावली, सैकतराशि के समान जघन, रम्भा-स्तम्भ के समान ऊरू, रक्तकमल के समान पादतल। महिलोचित उत्तम गुणो की राशि यह नारी मानो शोभायुक्त सुवर्णबिम्ब है। नही-नही, सुवर्णबिम्ब नही है। फिर क्या है? कुमुद-सुमनो की पक्ति है। वह भी नही। शायद, मन्मथ की हस्तिनी हो। हस्तिनी भी नही। क्या उत्कृष्ट कान्तिवाली विद्युत् है? यदि विद्युत् भी नही, तो और क्या हो सकती है? सुन्दर राजहस है। अरे! वह भी नही! अब मालूम हुआ अमृत, की धारा ही है! आखिर यह भी मिथ्या

चाणकादिदि यल्ल सम्पगि रेम्म रेम्मकादिदि चाल शृंगारकोम्म कोम्मकादिदि मुट्टु कुलिकेटि प्रतिमे प्रतिमेकादिदि अल्ल! पगडम्पुलतिके लतिकेकादिदि रूपलावण्य सरमु सरमुकादिदि नवरसम्बुल सरणि सरिणकादिदि मन्वि जव्वाजि भरणि भरणिकादिदि चालभागयिन तरुणि तरुणि लीलावती दनरगवे डलेन ।।

उपमा ठहरी। वस्तुत, यह तो मधु है। नही, नही, यह मधु भी नही, सौन्दर्य-समुच्चय होगा। वह भी नही। मानो वह लोकप्रसिद्ध मन्मथ बाण है। क्या वह बाण हो सकती है? नही, नही, फिर क्या है? वह तो सरस्वती की वीणा है। वह भी नही। सभी विद्याओ की कसौटी है। अरे! रे! कसौटी नही। अब जान पडा कि वह तो सम्पकि-लता है। वाह! वह भी नही। शृंगार-रसमयी रमणी है। नही, नही। इसमे सन्देह नही हो सकता कि यह तो लावण्यवती प्रतिमा ही है। वह भी नही, तो प्रवाल की लता है क्या? वह भी नही। रूप-लावण्य का तडाग है। नही, नही, शायद नवरसो की सरणि होगी। वह भी नही। सुगन्ध-द्रव्यो का भाण्डार-जैसी लगती है। सत्य तो यह है कि यह सुन्दर तरुणी लीलावती है, जो अपने पति की ओर बढ रही है।

वचनम्

अवुरा ईविधम्बुन अद्दम्पु नेगडु निद्दुम्पु मुद्दुचेक्किक्कु दिक्कु विदिक्कुल तलुक्कु तलुकचु पिक्कटिल्ल सक्कनि लीलावतिरमणि तन मगनि कडकु वच्चे मार्गम्नु पराक ।।

वचन

वाह! मुकुर की तरह स्वच्छ कपोलवाली, चारो तरफ छाई हुई कान्ति से चमकनेवाली, लीलावती अपने पति के समीप आ रही है। आगमन का ढंग देखिए

अठाणा आदि

वच्चे निदिगो लीलावती रमणी अलिनील वेणी ।। अ ।। भुत्सटगा दनुज चेलुलु कोलुवग मुदमु मीर दनुजन्दुनि वद्दिकि ।। च ।। चिगिलि नुदुट तिलक युकलुकुग चेलुवु देरमु गुरल दुस्जारग मकरगुनि चिलुकवले मुद्दु गारक मगनिपैनि कडुमोहमु मीरग ।।

अठाणा आदि

असुर-बालिकाओ से घिरी हुई, भौरो के तुल्य काले केशवाली लीलावती अपने पति दनुजेन्द्र के पास बडे व्यामोह और हर्ष के साथ आ गई है। ललाट मे तिलक, माथे पर हिलनेवाली अलक से अलंकृत, वह सुन्दरी मदन के शुक के समान आकर्षक है।

ऊपर : तामिलनाडु का भागवत मेल—हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद (लीलावती)

नीचे : असम के अंकिया नाट का एक युद्ध-दृश्य (रुक्मिणीहरण)

वचनम्

अवुरा ईविधम्बुन• हिरण्यकशिपु तनयुण्डैन प्रह्लादुडु वच्चे मार्गम्बु एविधा नण्टेनु ।।

वचन

अहो ! विस्मय !! हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद की प्रवेश-पद्धति का वर्णन यो है—

द्विपद

आगमनिखिलवेदान्त वेद्युण्डु भागवतुललोन परमपूज्युण्डु सकलविवेकुण्डु साधु सज्जनुडु अकलकचित्तुण्डु निखिल सेवकुडु परमवैष्णव भक्तिपरिपूर्णु डितडु सरस सज्जनुलकु साधुवैनाडु नयगुणशीलुण्डु नामतत्परुडु मयिमरचि निद्रलो स्मरणले जेसु सौन्दर्य-गालुण्डु जगदेकहितुडु इन्दिरा रमणुनि यलमि नेल्लपुडु भजियिम्पुनुचु चाल भक्तितो मिगुल आजगमुलु कोनियाड दृढचित्तुडनुचु परमुन मदिनेचि परमपावनुडु परिवडिचु नुदेच प्रह्लादु डिपुडु ।।

द्विपद

निखिलागमवेदान्तविद्, भागवतो मे परमपूजित, बुद्धिमान्, साधु, सज्जन, अकलकहृदय, समाजसेवक, परम वैष्णव, भक्तिपरिपूर्ण, शरणागतो का रक्षक, भगवान् का पूजन करनेवाला, शरीर को भूलकर नीद मे भी भगवान् का स्मरण करनेवाला, देखने मे सौन्दर्य का मूर्त्तिमान् स्वरूप, भक्ति के कारण सारे ससार के लोगो से वन्द्य, दृढचित्त, अन्तस्तल मे परमात्मा का मनन करने से अत्यन्त परिशुद्ध, प्रह्लाद द्रुतगति से आ रहा है।

वचनम्

अन्तट हरिभक्ति शिरोमणियैन प्रह्लादुडु वच्चेमार्गम्बु पराक् ।।

वचन

हरिभक्त-शिरोमणि प्रह्लाद आ रहा है। सावधान ! उसके प्रवेश की रीति यो है.

दरुवु-भैरवि-आदि

प्रह्लादुडु चनुदेंच निदिगो भक्ति-मीरगानु । आह्लादकरमुन तन सखु लेन्दरिकि परमुन देलुपुचु बाह लालितमुग भावतुललो परमपूज्युडनि जनुलु पोगडग । निनिधनि निधध पमनिध पमगरिगम पधम पमगरिगम पमपा ।।२ ।।

पमगरिगम पधधनि सग रिसनिध निपधनि सनिधपम धपम गरिगम पधा ।।

अडुगडुकु कुतन मयि मरचि यपुडु हरिहरि हरियनि पलुकुचता ।।२ ।।

दरुवु-भैरवि-आदि ।

अत्यन्त भक्ति और आनन्द के साथ अपने बन्धुओं को परमात्मा का परिचय कराते हुए, वह जिसे सब 'भागवतो से परमपूजित' कहते है, बार-बार शरीर को भूलकर तन्मयता से 'हरि-हरि-हरि' बोलनेवाला, 'भूमि पर सब हरिमय है, हरिनाम ही तारक मन्त्र है', ऐसा भली भाँति समझनेवाला, बडे लोगो की प्रशसा पाते समय 'दासोऽह' (आपका दास हूँ) कहते हुए बार-बार नमन करनेवाला, प्रह्लाद पिता के पास आ गया ।

हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के अन्तिम संवाद का अंश

हिरण्य-प्रह्लाद-संवादम्—सीसम्	हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-संवादम्—सीसम्
हि०—मिरा बालका यन्दुकुन् जेडियवु नामाट मीरेदि न्यायमटरा।	हि०—रे बालक! क्यो व्यर्थ अपने को गँवाते हो? मेरी बात की उपेक्षा करना उचित है क्या?
प्र०—पालकडलिलोन पवलिचि युन्नट्टि जगदीशुडुण्डगा जडियनेला।	प्र०—क्षीर-वारिधि पर शयन करनेवाले जगदीश की कृपा से मेरा कभी कुछ भी नही बिगडता।
हि०—राक्षसकुलमल्ल रक्षिन्तु वनि-युण्टि इट्लौ दुयनुचु ने नेरुगलरा।	हि०—मने समझा कि तुम राक्षस-कुल की रक्षा करोगे। किन्तु मै नही जानता था कि तुम इस तरह बेकार सिद्ध होगे।
प्र०—अखिलाण्ड कोटिनाय कुडैन मुरहरि चेरि नीकुलमु रक्षिम्पगलडु।	प्र०—अखिलाण्डकोटिनायक, श्री मुरहरिजी तुम्हारे कुल की रक्षा करेगे।
हि०—गरुड किन्नरयक्ष गन्धर्वुलिटु-वच्चि पेप्पुतो निनु विटुविम्पगलरा।	हि०—गरुड—किन्नर—यक्ष—गन्धर्व आदि देव यहाँ आकर क्या तुम्हे छुडायेगे?
प्र०—कडिमि वेल्पुलकेल्ल धनुडैन वेन्नण्डु पेम्पुतो न ननु विटुविम्पगलडु।	प्र०—शूरवीर, देवो के भी देव, विष्णु गौरव-सहित यहाँ आकर जरूर छुडायेगे।
हि०—मुल्लोक मुलवारु मुन्दुनिल्वग लेरु येन्दु बोदुवु नीकु यवरुदिक्कु।	हि०—तीनो लोको मे रहनेवाले सभी लोग मेरे सामने टिक नही सकते। तुम कहाँ जाओगे? कौन तुम्हारी रक्षा करेगा?
प्र०—मुल्लोकमुलकादिमूलमैं वेलशिल्लु दन्तीन्द्रिवरुडुड तनकुदिक्कु।	प्र०—तीनो लोको के आदि पुरुष, दन्तीन्द्र वरदायक मेरी रक्षा करेगे।
हि०—(गी) लेडि बेब्बुलितो नेदुरिचिनदलु नीवु प्रतिभाटलाड वच्चे वदेरा।	हि०—मेरे साथ तुम्हारा यह तर्क, बाघ के साथ हरिणी की बातचीत के समान है।
प्र०—आव चिन्नदैतेनु कारम्बु पोना इकनु तारु माराडिते विननु पोरा।	प्र०—राई, आकार मे बहुत छोटी है, तो भी अपने स्वभाव को दिखाती ही रहती है। छोडती नही।

दरुवु-पन्तुवराली-आदि	दरुवु-पन्तुवराली-आदि।
हि०—एरा ओरि बालका यन्दुकुन् जडियवु मेरगादु नामाटलु मीरुटनीकु ॥१॥	हि०—रे बालक! तू इस तरह क्यो अपना जीवन बेकार करता है। मेरी बात की उपेक्षा करना उचित है क्या?

प्र०—क्षीरवारिधिलोन शेषुनि पर्वलिचु सारसनाभु डुण्डंग सडियनेटिके ।।२।।	प्र०—क्षीर-वारिधि मे पन्नगशयन, भगवान्, विष्णु मेरी रक्षा के लिए तैयार है, इसीलिए मेरा कोई भी कुछ बिगाड नही सकता।
हि०—दानवकुलमुनेल्ल पूनि रक्षिन्तु वनुचु नेनिचि युण्टि निटुल नेरुग नैतिरा ।।।३।	हि०—मैने समझा कि तुम दानव-कुलो की रक्षा करोगे। मै नही जानता था कि इस तरह तुम्हारी जिन्दगी बेकार होगी।
प्र०—मानितसुगुण शीलुडैन भक्तपा-वनुडु श्री नाथुडु कुल मेल्ल चेलग जेशुरा ।।४।।	प्र०—सुगुण—शील—भक्त—पालक, श्रीनाथजी तुम्हारे कुल की रक्षा करेगे।
हि०—तडयक सिद्धसाध्य गन्धर्वयक्ष दिविजुलु बडियकुमनुचु निन्नु विडिपिम्पगलरा ।।५।।	हि०—क्या सिद्ध-साध्य-गन्धर्व-यक्ष आदि देवता पौरुष के साथ कष्टो से तुझे छुडायेंगे ?
प्र०—कडिमी देवतुलकेल्ल कान्तुडैन मुर-हरि नुडियमनुचुजन्नु विडिविम्पगलडु ।।६।।	प्र०—देवता सार्वभौम मुरहरिजी सूचना के विना ही मुझे जरूर छुडायेगे।
हि०—ब्रह्मादि सुरुलना बलिमि किम्पवे-रतुरु इम्महि नेन्दु पोदुवु यन्वरुदिक्कु ।।७।।	हि०—मेरे भुजबल से ब्रह्मादि देव भी डरते है। इस भूमि पर तुम कहाँ जाओगे ? आश्रय कौन देगा ?
प्र०—ब्रह्मादि सुरुललेल्ल पालिचु दयापरुडु कम्मविल्तु जनकुडौ श्री कान्तुड दिक्कु ।।८।।	प्र०—ब्रह्मादि देवो का भी रक्षक, मन्मथजनक, श्रीकान्त ही मेरा आश्रय है।

इन अवतरणो मे गीत, नृत्य और वार्त्ता की उसी सम्मिश्रित शैली का विधान लक्षित होता है, जो पूर्व-मध्ययुग मे उत्तर और दक्षिण दोनो के ही विभिन्न अचलो मे वैष्णव सन्तो द्वारा प्रचलित की गई।

उत्तरप्रदेश की नौटंकी

जैसा अन्यत्र बताया जा चुका है, नौटकी एक नाटक-विशेष का नाम है, जिसकी शैली सागीत की है। इसकी लोकप्रियता के कारण सागीत शैली का ही दूसरा नाम 'नौटकी' प्रचलित हो गया। नौटकी की कथा मैने अन्यत्र दे दी है। निम्नलिखित प्रसग पण्डित नत्थाराम शर्मा गौड (हाथरस) द्वारा प्रस्तुत 'सगीत नौटकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत' से उद्धृत है और खडी बोली के लोकपक्षीय काव्य का आकर्षक उदाहरण है। इसमे कुछ गीत उस्ताद इन्दरमन के बनाये हुए है। इनका काव्य-प्रवाह और सवाद की झडी दोनो ही निराली प्रतिभा के द्योतक है।

दो०—विविध भाँति के गुल खिले, भँवर रहे गुजार।
मानों मास बसन्त ने, कियौ शुभग शृंगार।।

ग०—अद्भुत शुभग शृंगार बनाया बसन्त ने। जलवा ये अपना आइ दिखाया बसन्त ने।।
नरगिस की लो सब्जी से जमी ऐसे छा रही। मख़मल का फ़र्श गोया बिछाया बसन्त ने।।
बेला जुही चमेली का पहना मनों गहना। हीरे की दमक को भी लजाया बसन्त ने।।
ये गुल गुलाब मुनियाँ गुल तुरे फबा यों। माणिक मणी चुन्नी को हराया बसन्त ने।।
चम्पा कनेर गेंदा सूरजमुखी खिला। पुखराज गो मेदक को भगाया बसन्त ने।।
ये मोतिया निवाड़ा गुलशब्बो केवड़ा। शुभ केतकी का गहना सजाया बसन्त ने।।
बन ठन के बैठा बगीचे छाई यो बहाली। निज हुस्न से कमर को छिपाया बसन्त ने।।
कोकिला चातक बोलते भौंरा की यो गुंजार। मानों साज लेकर राग को गाया बसन्त ने।।
दिल को खुशी हुई है अजब चमन देखकर। तबियत मेरी को आज फँसाया बसन्त ने।।

मालिन का

दो०—भवन मेरे के सामने, है खाली दालान।
टिकौ वही आराम से, ऐ परदेशी ज्वान।।

चौ०—ऐ परदेशी ज्वान न मानो ख़ौफ़ किसी का मन मे।
मत पाऔ तकलीफ़ करौ जो हुक्म बजाऊँ छन मे।।
शुचि गुलाब बेला के अब चुनने को तुरत सुमन में।
नौटंकी का हार बनावन हित जाऊँ गुलशन में।।

दो०—बनाऊँ हार निराला। ये गुल चुन-चुन कर आला।
जल्द बँगले जाऊँगी

फूलसिंह का

दो०—कर तयार खाना मुझे, एक मुहर दूं तोय।
गूंथूं तुझसे शुभग शुचि, जरा फूल दे मोय।।

चौ०—जरा फूल दे मोय देखना शोभा मेरी गुथन की।
सांचे की सी ढली कलीघर जोड़ूं जटित सुमन की।।
पहने हार नारि शहज़ादी छिपै कान्ति हीरन की।
होय चौगुनी जोति तुरत नौटंकी के जोवन की।।

दो०—हार हिय पर साजैगी। देख छवि रति लाजैगी।।
हाल सब तुझै सुनाया।
इसी इल्म की ख़ातिर मै माली को यार बनाया।।

मालिन का

दो०—काईं बात बनावता, ऐ परदेशी ज्वान।
बँगले अन्दर टिकत ही, हुआ तुझे बौरान।।

चौ०—हुआ तुझै बौरान बनै है चतुर और सुज्ञानी।
नौटंकी का हार बनाना तू जानै आसानी।।

अपने मतलब के लिये क्यो बैठो गढै कहानी।
अगर बिगड़ जाय हार तोप धर उडवा देगी रानी ।।
दो०—बैठ. अपने शऊर से। बात मत कर गुरूर से ।।
क्यो अपनी-अपनी तानै ।
हार बनाने की परदेशी कहा सार तू जानै ।।

फूलसिंह का

दो०—करतब अपने पर तुझे, मालिन बडा गरूर ।।
चुपकी होकर बैठ बस, क्या है तुझे शऊर ।।

चौ०—क्या है तुझे शऊर दूर से देख मेरा जौहर है।
कतैदार यह गुथन देख मोहित हो जिन्न बशर है ।।
गुचे-गुचे बीच जड़ दिया, क्या अमोल गौहर है।
जिसकी आभा के प्रकाश से लज्जित शम्शकमर है ।।

दो०—अजब खुशनुमां हार है। बना क्या कतैदार है ।।
गुलो की क्या कतार है। अजब ही मजेदार है ।।
जाइ कर उसे पिन्हइयो।
नौटकी मलका से जा दूना इनाम ले अइयो ।।

मालिन का

दो०—गुथन देख कर हार की, मो मन भयौ अनन्द ।
अजब अनैखी कली लखि, तबियत हुई पसन्द ।।

ला०—अजब खुशनुमां हार गुथा है ज्वान इल्मियत मे भरपूर ।
हार पहनले नारि के बरसै रुख़सारों पर नूर ।।
होकर तन में मगन हार लेकर मनमे मुसिकात चली ।
गजगवनी सी डगर में इतउत झोका खात चली ।।
कभी ठवनि केहरि की जाती कभी हंस गति जात चली ।
ड्यौढ़िन अन्दर महल को नागिन सी लहरात चली ।।
नौटंकी की नजर गुजारा पहनो हरवा मेरी हजूर ।। हार० ।।

नौटंकी का

ला० लं—बरसत नूर तेरे चेहरे पर तन मन हुआ मगन तेरा ।
सत्य बतादे अरी कैसे हुआ गवन तेरा ।।
नित आती नौ बजे करे ही फेरे तू कैई शब तक।
दस बाजे है कौन से खसम के पास रही अब तक ।।
हरगिज छिपना नही छिपावेगी मानि मुझ से कब तक ।।
कत्ल करादूं कहै नही साफ़-साफ़ मुझसे जब तक ।
खा-खा माल मस्त हुई मैं जानूं उमँगा जोवन तेरा ।। सत्य० ।।

मालिन का

ला० लं०—और दिना से दूनी मेहनत करी बनाया मैंने हार।
जुही मौगरा गुथे बेला नरगिश के गुल छबिदार।।
कुन्दकली की दमक निराली देखो प्यारी नजर पसार।।
भाव-भाव पर चमेली गुथी इस सबब हुई अबार।
दास इन्द्रमन कहै महरखां क्या है इसमें मेरा कसूर।।

नौटंकी का

ला० लं०—बाँई फड़कै आँख फड़कता मालिन बाँया कर मेरा।
चोली तड़कै हाथ हरदम जावै कुच पर मेरा।।
भरै तुरंग अंग जोवन लहराता लहर लहर मेरा।
मुझे ये दीखै कोई मो लायक आता बर मेरा।।
कर शृंगार मेरा फूलो का धन से भरूं वतन तेरा।।

मालिन का

दो०—सूर्यमुखी के फूल का, शीश फूल शिर घाल।
मौलसिरी के सुमन की, मोरबन्दनी भाल।।

ला०—शुचि करनफूल पहनाये कान कदम के।
गुलशब्बो का गलपटिया गलमें चमके।।
महाराज जुही के जोशन निरयाले।
चम्पकली चम्पा की बाजू बेला के डाले।।
नरगिस की नथ में जड़ा मोतिया गुल है।
भलके की जगह पर नीलम कोयल गुल है।।
महाराज केतकी कर कंगन छबिदार।
छूई मुई के छन गेंदा के गजरे दीने डार।।
मौगरा सुमन की मोहनमाला डारी।
करधनी कुन्द की कटि में करै बहारी।।
महाराज पद्म की पायल पगन सजाय।
सकल सुमन के सब आभूषण दये तुरत पहनाय।।
सदहा गुल का गुलदस्ता कर में धारी।
फिर बनों बिदेशी को हरबा गल डारी।।
महाराज पान मुख दरपण कर दीनों।
देखो मुख शहजादी क्या श्रृंगार शुभग कीनों।।

नौटंकी

दो०—दरपण जब देखा मैंने, अजब शुभग श्रृंगार।
खुशी हुई तन बदन में, अपना रूप निहार।।

चौ०—अपना रूप निहार मैंने जब नजर हार पर कीनी।
मणि माणिक पुखराज दमक कही कहीं चुन्नी की चीन्ही।।
गुस्सा खा तन बदन पकर बहियां मालिन की लीनी।
कहाँ से लुच्ची तैंने हार मे जभारात गुहि दीनी।।

कड़ा—मालिनरी तेरा गुथा नहिं हार हार किस पर गुथवाया।
कडी लग रही गाठ मरद यह हार बनाया।।

दु०—सच बता हरामिन खसम कौनसा मालदार कर आई तू।
कब हुआ तेरे घर इतना धन जो लाखो का जड़लाई तू।।

दो०—यार कोई कीना तैंने। जान लीनी यह मैंने।।
मुझे यह देत दिखाई।
इश्क चोट का मारा कोई गुलशन रखा छिपाई।।

मालिन का

दो०—कुमर मेरे की बहू का, है पीहर गुजराज।
सो आई गौने अभी, कहूँ धरम की बात।।

चौ०—कहूँ धरम की बात अभी तक तुमने देखी है ना।
उसके पीहर जभारात की कमी नही सुन लैना।।
बड़ों आपकौ नाम उसे बढ़िया इनाम कुछ देना।
उसने रचि पचि जटित जवाहर हार बनायौ भैना।।

दो०—रत्न जड़ हार दिये है। आपकी नजर किये है।।
छिपाई लाल लड़ी है।
शाहजादी सुज्ञान वह मेरी आई चतुर बड़ी है।।

नौटंकी का

दो०—सुखुन तेरे मालिन सुने, नैन पड़े मेरे लाल।
कोड़न के मारे तेरी, उड़वा दूंगी खाल।।
दो०—मालिन समझले मन मे, आया तेरा काल।। मालिन०।।
झूठे सखुन जो बोले, कढ़वाय लऊँ खाल।। मालिन०।।
तू मुझे समझ कर भोली, करती है जाल।। मालिन०।।
किसकी भगा बहू लाई, बतला ततकाल।। मालिन०।।
अब भी बता सच मालिन किसका यह माल।। मालिन०।।
तोकूं नहीं इन्दरमन कर देगे पामाल।। मालिन०।।

मालिन का

दो०—मेरी बहना कौ बड़ौ, मोपर रहत प्रमोद।
ताकौ सुत एक साल से, मै धर लीनों गोद।।

चौ०—मैं धर लीनो गोद कुमर मो ताकी यह नारी है।
रानी मानो सत्य मेरी बहनौति बहू प्यारी है।।
सुन्दर चचल चतुर बड़ी वह रखै होशयारी है।
उस ने हार तुम्हारे मे यह नई गुथन डारी है।।

दो०—रतन जड़ हार दिया नहै। आप की नजर किया है।।
छिपाई लाल लडी है।
शाहजादी सुज्ञान बहू मेरी आई चतुर बडी है।।

नौटंकी का

राग कालंगड़ा परज—मालिन बहू आपनी लाना।
कैसी बहू चतुर है तेरी, हमको जरा दिखाना।। मालिन०।।
देरी मतना करै चमन को कर जा जल्द पयाना।। मालिन०।।
तुरत फुरत गुलशन से आना, मतना बिलम लगाना।। मालिन०।।
खाल कढा भुस भरवा दूँ, निकलै तेरा बहाना।। मालिन०।।

मालिन का

दो०—सुन शहजादी के बचन, उड़ गये होश हवास।
तन मे अति व्याकुल बिकल, मन में बहुत उदास।।

झू०—मन में भई उदास यह भई कैसी ऐ करतार मोकूं कहा बिपती दीनी।
रोबत जार बेजार गई चमन अन्दर गिरी धरणि ग़शखाय भई कांति हीनी।।
कछु देर मे होश भयौ लगी कहन तें मोय लोभ दे बिदेशी मोहि लीनी।
इन्दर कहै जइयो सत्यनाश तेरौ हाय संग मेरे तैंने दगो कीनी।।

फुलसिंह का

दो०—ऐ मालिन सच बता दे, ऐसी क्यों घबराय।
कहा दुक्ख तुझ को हुआ, गिरो धरणि ग़श खाय।।

झू०—गिरी धरणि ग़शखाय अकुलाय कर के हुआ कहा जा रही तू रोय प्यारी।
गोरों अंग सब पर गयौ श्याम तेरा ब्याकुल हुआ तन भयौ क्या तोय प्यारी।।
अभी महल से आई तू चमन अन्दर चक्कर खाय गिरी धरणि गई सोय प्यारी।
कहें इन्द्र मैने कहा दगा कीनी नाहक दोष आई मोय प्यारी।।

ला०—मुरझाय धरणि पर गिरी किस सबब मालिन।
मेरी जान बता अब अपने दिल की बात।।
जी जामा को छोड़ धरणि उलटी पछार क्यों खात।।
क्या दशा करी तेरे संग मैंने प्यारी।
या से मानों तैंने मन में दुख भारी।।

अब कह दे सारा हाल तू मती छिपारी।
क्यों हुआ नीर नैना से तेरे जारी।।
मेरी जान ' आज क्यों मछली सी घबरात।
जी जामा० ।।

मालिन का

ला०—परदेशी तैने मेरी कराई ख़्वारी।
महाराज हाल क्या तुझ से कहूँ सुनाय।।
कीनी ऐसी दशा नाव दीनी मंझदार डुबाय।।
पंजाबी तैने मुझ को नहीं बताया।
लाखो का धन ले हरबा बीच छिपाया।।
रानी को देखत गुस्सा बदन में छाया।
मुझ से बोली यह किसने हार बनाया।।
महाराज सखुन सुन यह मैं गई घबराय। कीनी० ।।

फूलसिंह का

लावनी—अब नौटंकी से क्या मालिन कह आई।
तजि आज उदासी क्यों जाती घबराई।।
जो गुजरा है अहवाल सो दे बतलाई।
सब दास इन्द्रमन से कहि नारि सुनाई।।
मेरी जान धीर धर करै मती अपघात।। जी जामा० ।।

मालिन का

लावनी—मैंने बेटा की बहू तुझे बतलाई।
ला बहुअर को उन ऐसे कही सुनाई।।
यह सुनत बचन दिल अन्दर में घबराई।
मेरे बहुअर कोई नाहि जा दऊँ दिखाई।
महाराज बतादे अब क्या करूँ उपाय।। कीनी०।।

फूलसिंह का

दो०—ऐ मालिन दिल का सकल, रंज आलम कर दूर।
बहुअर में ऐसी बनूं, जैसे कोई कोई हूर।।

चौ०—जैसे कोई हूर उतर कर परिस्तान से आई।
हुस्न दमक कटि लचक के आगे रति रम्भा शरमाई।।
तीन तीन बल खाइ चलूं जैसे नागिन लहराई।
साफ़ निकल आऊँ महलन से ऐसी करूँ सफाई।।

दो०—ला साड़ी इक अनमोली। लसी सलमे की चोली।।
जड़ा मोतिन का दामन। लाउ मुझको गज गामिन।।
पहन महलो' जाऊँगा।
नौटंकी को रूप आज अपने से शरमाऊँगा।।

मालिन का

दो०—नौटंकी से हुस्न मे, तू क्या कमती ज्वान।
बहुग्रर तुझै बनायदूं, प्यारे हूर समान।।

आल्हा—ऐसी बहुअर तोय बनाऊँ लखि कर हूर परी शरमाय।
नौटंकी से हुस्न चौगुना प्यारे तेरा दऊँ बनाय।।
तुरत न्हिला कर मैंने कुमर के सिर में अतर दिया छिटकाय।
पटिया दोनों पार ज्वान के दीनों मांग सिंदूर भराय।।
बिन्दी लगा दई माथे पर नैनन काजर दियौ लगाय।
नाक मे डारी नथ झलकारी अधरन लटकन झोका खाय।।
हंसली हार हमेल गले मे मोहन माला दई पहनाय।
जुगनूं बाजू छन्न पछेली जोशन कंकन शोभादार।।
कानफूल झुमका कानन मे पाँयन पायल की झनकार।।
सारे गहने सजा अंग पर चोली बाँहन दई चढ़ाय।
दामन पहरायौ प्यारे ताऊपर सारी दई उढ़ाय।।
मुख बीड़ा दे सजा ज्वान को तब डोला में लियो बिठाय।
डोला संग लियौ मालिन ने शीश महल में पहुँची जाय।।

× × × ×

पश्चिम उत्तरप्रदेश और हरियाना का नाट्य-साहित्य साम्प्रदायिक और धार्मिक आग्रह से दूर ही रहा, जैसा नौटकी के उपयुक्त उद्धरण से स्पष्ट है। यह आश्चर्य की बात है पश्चिमी उत्तरप्रदेश के ही दूसरे भाग ब्रजमण्डल मे रासलीला जैसे वैष्णवमतावलम्बी नाट्य का विकास तो हुआ ही, वहाँ की भाषा और भक्ति की प्रेरणा का विस्तार सुदूर पूर्व असम की घाटी तक मे हुआ। १६वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे महापुरुष शकरदेव द्वारा रचित अकिया नाटो मे नाट्य-साहित्य की दूसरी ही शोभा प्रतिबिम्बित है।

असम का अकिया नाट :

रुक्मिणीहरण नाटक

महापुरुष शकरदेव ने असम मे अपने अकिया नाटो के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया, वह एक मिश्रित भाषा थी, जिसमे ब्रजमण्डल, मिथिला, काशी इत्यादि क्षेत्रो के शब्दों, मुहावरो, वाक्य-विन्यास आदि का असम की स्थानीय भाषाओ मे आयोजन किया गया था। आजतक वहाँ के सत्रो मे इसी भाषा का प्रयोग नाटो मे होता है। महापुरुष शकरदेव के 'रुक्मिणीहरण' मे मध्ययुगीन वैष्णव-साहित्य का रस प्रचुर मात्रा मे दीख पड़ता है। निम्नलिखित उद्धरण मे रुक्मिणी के दूत वेदनिधि के श्रीकृष्ण के पास पहुँचने का प्रसग है :

सूत्र०—ताहे सुनिए वेदनिधि बिहसि बोलल।

वेदनिधि—हे स्वामि, कृष्ण, तुहु जगतक परम ईश्वर। तोहाक आखिए देखलु, अत पर हमार कमन कुशल थिक ? तुहु देवकीपुत्र, सोहि नहि, ब्रह्मा महेस सेवित, श्रीनारायण, से तुहु भूमिक भारहरण-निमित्त अवतार भेलि थिक। अ तोहोक महिमा की कहब। हामु जदर्थे आवलु ता सुनह। हामार बिदर्भ राजनन्दनि रुकमिनि भिक्षुक मुखे तोहारि गुनरूप सुनिए मने स्वामि भावे वरल। से कन्याक बिबाह करिते, पापी सिसुपाल आवल। ताहे देखिए राजकुमारि मरैछे। अ हामु कि कहब ? एक पतिया लेखि पठावल थिक, ताहेक देखह।

सूत्र०—ओहि बुलि, रुकमिनिक पत्र कृष्णक हाते देलह। श्रीकृष्ण सादरे धरिए, मुद मागल। बिप्रक बोल।

श्रीकृष्ण—हे गुरु। तुहु पाठ करह, हामु सुनिए रहो।

सूत्र०—विप्र पत्र लैया पडइते लगाल, श्रीकृष्ण एकचिते सुनिए थिक। आहे लोक, ताहे देखह सुनह, निरन्तरे हरि बोल।

वेदनिधि—(पत्रपाठ) "स्वस्ति श्री परमेश्वर, सकल सुरासुर वन्दित पादपद्म, प्रपन्न जनतारण नारायण, श्री श्रीकृष्ण चरण सरोरुहेषु रूक्मिण्या सहस्र प्रणामलिखनम्। कार्यंच शिवमिह निवेदनच। हे स्वामि, भिक्षुक मुखे तुया गुन रूप सुनिए, कायावाक्यमने तोहाक पतिभावे बरेछि। तथि पापी सिसुपाल, हामाक बिवाह करिते आवलथिक, जैचे सिहक भार्या निते शृगाल चुम्पि रहए थिक। ताहे देखि भये दण्ड जुग जाइ। जानि हामि निज दासिक सत्वरे नेवसिया स्वामि। जब बोल, तुहु अन्तेसपुरे रह, कुन परकारे भेट पाञ्, ततोचित उपाय कहु। हे नाथ ता सुनह, बिबाहक पूर्व दिवसे, भवानीक मठे चलब। से समये हामाक हरि निया जाय। जेबे तुहु हेला कये नाहि नेवब, तेबे तो हात बध दिये, हामु प्राण छाडब। पापी सिसुपालक छायाक हामु कवहु पावे नाहि परसो। ओहि जानि दीन दासिक, हे नाथ, उद्धर उद्धर। तव चरन सरोरुहे किबहु लेख्यमिति पत्रमिदम्।

निरीक्ष्य करुणं पत्रं पत्न्याः परमपुरुषः।
प्रेमाश्रुलोचनस्तस्थौ म्लाननेत्रमुखाम्बुजः ॥३५॥

(परपुरुष भगवान् रुक्मिणी के करुण पत्र को देखकर प्रेमाश्रु बहाते हुए म्लान नेत्र और म्लान मुखकमलवाले हो गये ॥३५॥)

सूत्र०—तदनन्तर, रुकमिनिक सकारुन पत्र देखिए, कृष्णक हृदये ताप उपजल, कमल-नयनक नीर झरये लागल। जैसन बिलाप कयल, ताहे देखहु सुनह, निरन्तरे हरि बोल।

राग गौरि, रूपक ताल।

ध्रु०—हरि हरि किना भेलि राजकुमारि।
कमल नयन पुरि बारि झुरावत, घनघन फोकारे मुरारि ।।

पद—करत कतनु तेरि, नारि निकारुन, मोहि बिरह दहे आगी।
तोहो जब जीवन, बाला छोडह, हउ तब तुया बध भागी ।।
तेरा दरसन, कैसन होइ, सुमरिते तनु मन तावे।
मिलन अधिकहु हरिको आकुल, कृष्ण किंकर रस गावे ।।३६।।

कृष्ण—हे वेदनिधि, तुहु कहिवार पात्र। जो दिवसे से प्रियाक रूप गुन सुनलु, सेहन्ते रुकमिनिक, मात्र ध्यान कय हामार मन थिक। से प्राण प्रियाक, अवस्था कथा सुनिए, कैसे जीबन धरु? अये दारुक, सत्वरे रथ आनह, कुण्डिनक चलिकहु एइ क्षणे जागु। से प्रियाक दुख सुनिए प्रान रहये नाहि।

अथ रथमधिरुह्य केशवोऽसौ।
सपदि सारथिनोद्धवेन युक्त.।।
करकृतधनुरीश्वरः प्रियाया·।
प्रेमाकुलः कुण्डिनमोजसा ययौ ।।३७।।

(तदनन्तर, शीघ्र ही सारथी और उद्धव के सहित रथ पर चढकर भगवान् कृष्ण प्रिया के प्रेम से आकुल हो हाथ मे धनुष लेकर वेगपूर्वक कुण्डिनपुर को गये ।।३७।।)

सूत्र०—ताहे सुनि दारुके तत्तकाले रथ जोगावल, पेखि श्रीकृष्ण ब्राह्मनक हाते धरि उपरे तुलि, हाते सरचाप धरिकहु, उद्धव सहिते, तथि चढल। दारुक महावेगे रथ खेदावल। श्रीकृष्ण जैसे चलल ताहे देखहु सुनह, निरन्तरे हरि बोल।

गीत

राग माहुर घनश्री, परिताल।

ध्रु०—कुण्डिनकु आवत मोहन मुरारु।
कोटि इन्दुनिन्दि बदन बिराजु, कर सारंग सर धारु ।।

पद—स्याम मुरति पीत, अम्बरु अम्बुद, तड़ित जड़ित जस सोहे।
रतन मुकुट मनि, कुण्डल डोलित हासि जगत जन मोहे ।।
भुज जुग केयुर कंकन आगुंलि, आगुरि रतन बिकास।
मंजिर रंजित, चरण सरोरुह, संकर कह हरिदास ।।३८।।

सूत्र०—ओहि परिकारे, कृष्णक रथ वाउबेगे चले। तथि आलोल्ये ब्राह्मण, बेदनिधि रथ बेगे श्रुतिभग हुआ परल, हात-पाव थिर भेल, पेट उफन्दल। नासात विश्वास नाहि निसरे, जैसे मृतक तद्वत अचेतन भेल। ताहे पेखिए श्रीकृष्ण, हाहा बुलि सिरे जल सिचिए, फुकि फुकि धातु आनल।

कृष्ण—हे वेदनिधि स्वस्थ हव, स्वस्थ हव।

सूत्र०—कृष्णक आश्वास सुनिए, किछु चेतन पाइ, विप्रे बोलल।

वेदनिधि—हे बापु तुहु बा के? हामु बा कोन? कि निमित्त एथा आवल थिक?

कृष्ण—(विहसि बोल) हामु द्वारकार कृष्ण, तुहु वेदनिधि, रुकमिनि पठावल, तन्निमित तुहुं हामु कुण्डिने चलयिछि।

सूत्र०—ताहे सुनिए विप्र वाहु मेलि कृष्णक धरल।

वेदनिधि—हाहाबाप बर्त्तलु, हामु क्षणेके मरि जाओ, तोहाक निमिते पुनु उपजलो।

सूत्र०—ब्राह्मण कम्पय देखि, श्रीकृष्ण आश्वासन बुलि स्वस्थ कयल।

ततो विप्रं प्रभुः प्राह गच्छ त्वं सत्वरं गुरो।
मदागमनमाख्याहि प्रियायाः प्रीतिवर्द्धनम् ।।३६।।

(इसके उपरान्त भगवान् ने ब्राह्मण से कहा कि ब्राह्मणदेव तुम शीघ्र ही जाओ और प्रिया की प्रीति का वर्द्धन करनेवाले मेरे आगमन की सूचना दो ।।३६।।)

सूत्र०—तदन्तर श्रीकृष्ण कुण्डिन समीप पाइ बिप्रक बोलल।

कृष्ण—हे गुरु, तोहो आगु हुवा चलह। से प्राणप्रिया नैरासा देखिये प्राण छाडब। हामार आगमन रुकमिनि कह गिया।

सूत्र०—बिप्र सुनिए कृष्णक आसिर्बाद कयकहु आगु हुवा चलल। इकथार होक। रुकमिनिक वृतान्त सुनह।

श्लोकः

विलम्बं वीक्ष्य विप्रस्य रुक्मिणी राजनन्दिनी।
चिन्तां दुरन्तामासाद्य रुरोद सखिसन्निधौ ।।४०।।

(राजनन्दिनी रुक्मिणी ब्राह्मण के लौटने मे विलम्ब देखकर गहरी चिन्ता प्राप्त करके सखी-सान्निध्य मे रोने लगी ।।४०।।)

सूत्र०—तदन्तर विप्रक विलम्ब देखि रुकमिनिक मने चिन्ता मिलल।

रुक्मिणी—(मदनमजरिक बोल) हे सखि, हामार परम अनर्थ भेल। आजु अधिवास कालि बिबाहक दिबस। से वेदनिधि कृष्णक आनए नाहि पारि, लज्जाये नावल। हाहा अब स्वामिक आसाछेद भेल।

सूत्र०—ओहि बुलि कुमारी जैसे क्रन्दन कयल ताहे देखह सुनह, निरतर हरि बोल।

गीत

राग गौरी, विसम ताल।

ध्रु०—**मायि माधव अब कयल मेरि नेरास।**
पन्थ नेहारि राजकुमारी, फोकारे घने निस्वास।।
हामु अभागि, लागि जानहु, जीवन नाथ नावे।
मुरुछि पड़ल, चेतन हरल, रमनि संकरे गावे ।।४१।।

सूत्र०—ऐसन क्रन्दन कए बाला, मुरुछित हृया परल, सखि सब देखिए, हा हा बुलि, बाहु मेलि धरिकहो प्रबोध बोलल।

मदनमंजरी—हे सखि, स्वस्थ हव, स्वस्थ हव। से श्रीकृष्ण तोहाक निमिते, जाकेरि अवश्य आवब। नाम मात्रे महा महापापिसवके ससारनिस्तर, से भक्तक बान्धव-माधव, तोहाक नाहि रक्षा करब? प्रान सखि ओहि सका छाडह्। हामाक सपत उठह् उठह्।

तत उत्थाय सा बाला विनिःश्वस्य पुनः पुनः।
रुरोद करुणं बाला स्मृत्वा कृष्णपदाम्बुजम् ।।४२।।

(तदनन्तर, बाला रुक्मिणी उठकर और बारम्बार दीर्घ श्वास लेकर भगवान् कृष्ण के चरणो का ध्यान करके विलाप करने लगी।।४२।।)

सूत्र०—कुमारी चेतन लभिकहु, निस्वास फोकारि, हाते जदन चडाइ बैठल।

रुक्मिणी—(सखि सबक बोल) हे मदनमजरि, हे सखि लीलावति, हामार बिहि बक भेल। वेदनिधि गैयाकहु बाहुरि नावल, प्राण कृष्णक बात किछो नाहि पावलु, हा हा ओहि जनमे से स्वामिक चरन, दरसनदुल्लभ भेल।

सूत्र०—ओहि बुलि पुनु जैसे क्रन्दन कयल बाला, ताहे देखह सुनह, निरतर हरि बोल।

गीत

राग गौरी जोतिमान।

ध्रु०—**माधव मेरि बिछुरि अब नावल, हरि बिरहानल चेतन गरि।**
नावल अबहु बाहुरि द्विजनन्दन कह कैसन सखि जीवन धरि।।

पद—**ओहि सिसुपाल काल भेलि मेरि।**
हेरि हरत चेतन तनु खिन।।
हामु अभागि बिहि बंकिम हमारि।
प्रान पिउ कैसन कयलि बिहिन।।
करबि कमन उपाय पुनु पाइ।
अवधि बिबाह रयनि मह थिक।।
हेरब आवरि हरिको नाहि चरना।
कह शंकर झुरे रमनि अधिक।।

रुक्मिणी के इस करुण क्रन्दन की प्रतिध्वनि एक आधुनिक ग्रामीण ब्राह्मणी नायिका के विलाप मे भी मिलती है। परम्परा की अभिव्यजना भिन्न होते हुए भी आत्मा एक ही है। इसका उदाहरण बिहार के बिदेसिया नाटक मे मिलता है।

बिहार का बिदेसिया :

पश्चिमी बिहार का 'बिदेसिया' भोजपुरी-क्षेत्र की विलक्षण अभिव्यजना है। इसके प्रणेता एक प्रतिभाशाली ग्रामीण, श्रीभिखारी ठाकुर अर्द्धशिक्षित होते हुए भी भोजपुर-क्षेत्र की लयताल-झंकृत भूमि से अनुप्राणित हुए। लोक-प्रचलित गीतों को उन्होंने एक ऐसे

कथानक मे गूँथा, जिसमे पश्चिमी बिहार के ग्रामीण जीवन के यथार्थ और 'मेघदूत' से आधुनिक युग तक प्रवाहित विरहिणी नायिका और प्रेमियो के सन्देशवाहक दूतो की परम्परा का अद्‌भुत मिश्रण है। ठेठ देहातीपन और कही-कही अश्लीलता के साथ उत्कृष्ट मार्मिकता का सयोग है। निम्नाकित उद्धरण मे विरहिणी नायिका के पास एक बटोही के आने और उसके द्वारा अपने पति के पास सन्देश भेजने का प्रसग है। उसका पति नगर मे एक वेश्या के फेर मे पडा है। 'बिदेसिया' शब्द पति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

।। समाजी पूर्वी धुन ।।

मचिया बैठल धनी मने मन समुझे से।
भुइया लोटेला लामी केश रे बिदेसिया।।

।। प्यारी पूर्वी धुन ।।

गवना कराई सैयां घर बैठवले से।
अपने गइले परदेश रे बिदेसिया।।
चढ़ली जवनियां बैरन भइली हमरी से।
के मोर हरि है कलेस रे बिदेसिया।।
केकरा से लिखि के मै पतिया पठइबों से।
केकरा से पठवों सनेस रे बिदेसिया।।
तोहरे कारण सैयाँ भभुती रमइबों से।
घर . ... बिदेसिया।।
कबल दो फिरिहे दइब निरमोहिया से।
मोरा बिरहनियाँ के भाग रे बिदेसिया।।
हमरो सुरत सैयाँ तुहुँ बिसरवल से।
रहल सवति रसपागि रे बिदेसिया।।
दिनवा बितेला सैयाँ बटिया जोहत तोर।
रतिया बितेला जागि जागि रे बिदेसिया।।
घरी रात गइले पहर रात गइले से।
धधके करेजवा में आगि रे बिदेसिया।।
अमवा मोजरि गइल लगले टिकोरवा से।
दिन पर दिन पियराला रे बिदेसिया।।
एक दिन बहि जइहै जुलुमी बयरिया से।
डाड़ पात जइहें भहराइ रे बिदेसिया।।
झमकि के चढ़ली मै अपनी अटरिया से।
चारु ओर चितवों चहाइ रे बिदेसिया।।
कतहुं ना देखौं रामा सैयाँ के सुरतिया से।
जियरा गइले मुरझाई रे बिदेसिया।।

।। समाजी चौपाई ।।

तेहि अवसर एक बटोहि आये। तासो प्यारी दुःख सुनाये ।।
पति गुण कहिकर रोवन लागी। सुन बटोहि के धीरज भागी ।।

।। प्यारी बटोही से पूर्बी धुन ।।

गोड तोर लागी रामा भइया बनिजरवा से।
हमरो बिनय सुनि लेहु रे बटोहिया ।।
जहुँ तुहुँ जइब रामा पुरबि बनिजिया से।
हमरो सनेस लेले जाहु रे बटोहिया ।।

।। प्यारी ।।

कैसे मै कहौ रामा अपनो सनेसवा से।
बार-बार जिया अकुलाई रे बटोहिया ।।
ताही पीछे बारहो बियोग रे बटोहिया ।।
जेकर तिरियवा रामा बन बन बिलखे से।
सेहो कैसे करे रस भोग रे बटोहिया ।।
अगिया लगाऊं रामा राजा की नौकरिया से।
कठिन करेज हवे तोर रे बटोहिया ।।
तोरि धनि भइली रामा बनकी कोइलिया से।
कुहुँकति फिरे चारु ओर रे बटोहिया ।।

।। बटोही ।।

कइसन हुउवे तोर बारे रे बलमुआ से,
हमरा के देहुना बताइ रे संवरिया।
तोहरे सनेसवा हो तोहरे बलमुजी से,
हमहूँ कहबि समुझाई रे संवरिया ।।

।। प्यारी बचन बटोही से ।।

हमरा बलमु जी के बड़ी-बड़ी अंखिया से,
चोखे चोखे बाड़े नैना कोर रे बटोहिया।
ओठवा तो बाड़े जैसे कतरल पनवां से,
नकिया सुगनवॉ के ठोर रे बटोहिया ।।
दंतवा तो शोभे जैसे चमके बिजुलिया से,
मोछियन भंवरा गुंजारे रे बटोहिया।
मथवा में सोभे रामा टेढ़ी काली टोपिया से,
रोरी बुना सोभेला लिलार रे बटोहिया ।।

।। प्यारी वार्त्ता ।।

ऐ बाबा! हम केतना ले दुख सुनाईं, हमरा अन्न पानी कुछ अच्छा नइखे लागत।

॥ बटोही की वार्त्ता ॥

चुप रह ! हमार बाबू हो ! तोहरा अन्न पानी धसत होई ? अच्छा हम जातानी तोहरा पति से हम पाती जरूर लगाके भेजबि ।

॥ समाजी धुन पूर्बी ॥

अतना कहि के रामा चलेला बटोहिया से,
पहुँचेला पुरुब के देश रे बटोहिया।
गलिया कि गलिया रे फिरे बनिजरवा से,
कतहू ना पावेला उदेस रे बटोहिया।

॥ समाजी चौपाई ॥

गॉव का पच्छिम एक ऊँची अटारी।
मोतिअन सो जरल केवारी ॥
मचिया बैठल एक पतरी नारी।
तो संग में खेले जुआसारी ॥
मनहीं मन बटोही पहिचाने।
प्यारी के दुख कही बखाने ॥

॥ बटोही का बिदेसी से धुन पूर्बी ॥

पच्छिम के हई हम बारे रे बटोहिया से,
पुरुब करीले रोजगार रे बिदेसिया।
आवत रहई बबुआ पतरी डगरिया से,
खिरिकिया पर तो धनिया ठाढ़ रे बिदेसिया।
तोर धनि बाड़ी रामा अँगवा के पतरी से,
लचकेली छतिया के भार रे बिदेसिया।
केशिया त बाड़ी जैसे काली रे नगिनिया से,
सेनुरा से भरल बा लिलार रे बिदेसिया।
अँखिया त हउवे जैसे अमवा के फँकिया से,
गलवा सो ला गुलनार रे बिदेसिया।
बोलिया त बाटे जैसे कुहुके कोइलिया से,
सुनि हिया फाटेला हमार रे बिदेसिया।
मुहवाँ त हउवे जैसे कमल के फुलवा से,
तोहि बिनु गइले कुम्हिलाई रे बिदेसिया।
अइसन तिरियवा के सुधि बिसरवल से,
तोहरा के हवे धिरिकार रे बिदेसिया।

॥ समाजी बचन धुन पूर्बी ॥

एतना बचन जब सुनेला बिदेसिया से,
भूमि मे गिरेला मुरझाई रे बिदेसिया।

कतही फेंकेला रामा कमल के फुलवा से,
कतही फेंकेला जुग्रासार रे बिदेसिया ।।

।। रंडी का बिदेशिया से वार्त्ता ।।

ऐजी रउवाँ ग्राज इतना काहे मन थोर कइले बानी ? का घर मन परल बाटे ग्राकी तबियत खराब बाटे।

।। बिदेसी सवैया ।।

हे सजनी जरा धीर धरो, हम जइबो घरे धनी रोवत होइ है। प्यारी के दुःख जबसे हम आये हमरे बिना कैसे जिवत होइ है। दिवस न चैन रजनि में नीद। सबै सुख सेज न भावत होइ है। दर्शन कहे काह कहुं धनी नैना से नीर बहावत होइ है।

।। रंडी का बिदेसी से दोहा ।।

पिया पिरितिया त्यागि के, ग्रौर कही मत जाहु।
कहे भिखारी भीख मागकर, हम लाइब तुम खाहु।।
प्रातःकाल में दर्श करिकै, भिक्षा माँग लिग्राऊँ।
ग्रपने हाथ सुन्दर भोजन, नित तुझे कराऊँ।।

।। बटोही का बिदेसिया से वार्त्ता ।।

ए बबग्रा इ के बोलत बाटे।

।। बिदेसी वार्त्ता ।।

ए बाबा! इहे नु कनियाँवा ह। जवनासे इहाँ शादी भइल बाटे।

।। बटोही वार्त्ता बिदेसी से ।।

ऐ बबुग्रा! तू शादी कइले बाड़ ईहां? ग्रच्छा-ग्रच्छा बड़ा नीमन कइले बाड ए हमार बाबू।

।। बिदेसी वार्त्ता बटोही से ।।

ऐ बाबा! इहाँ बाड़ा कुल काम पथार हो गइल बाटे, देखी ना इहे एगो कोठी बनवली हां। ए बाबा ए में बड़ा रुपिया लागल बाटे।

।। बटोही वार्त्ता बिदेसी से ।।

ग्रच्छा ए हमार बाबु बड़ा नीमन काम कइले बाड़, इहे न चाही कि जाँहर में तहाँ खूब ठाट-बाट बनाके रहे। दू तीन गो शादी करके रहे, चाहे घरके जानाना खइला बिना मर जासु। ग्रच्छा कुछ भइल घरे चल जा।

।। रंडी बिदेसी से वार्त्ता ।।

ए रउग्राँ इ के बोलत बाटे? चली चलीं लड़का रोग्रत होई।

।। बटोही वार्त्ता बिदेसिया से ।।

ए बबुग्रा हो, एकरा लड़का बाटे?

।। बिदेसी बटोही से वार्त्ता ।।

हाँ ए बाबा, एकरा तीन ठो लइका बाटे।

।। बटोही बिदेसी से वार्त्ता ।।

हा। बबुआ एकरा देह जवाला बुझाते नइखे और तीन ठो लइका केने से भई गइल हो बबुआ! एकर• और तोहर जिनगी बनल रही त एकठो सहर बसा देव, ए बबुआ! अच्छा-अच्छा घरे जा।

।। बिदेसी बटोही से वार्त्ता ।।

ऐ बाबा अच्छा तनी ओकरो से राय लेली तनी रउआँ बैठी।

।। रंडी बिदेसी से वार्त्ता ।।

अहो? हे प्राण प्यारे? नैनो के तारे कही जा मत बिसारे, केवल आसा है तिहारे।

परम्पराशील नाट्य-साहित्य मे जहाँ नायिकाओ के काव्यशास्त्र-सम्मत रूप की झाँकी मिलती है, वहाँ व्यवहार और कथन मे जनसाधारण के दैनिक जीवन की चुहल और लोच भी मिलते है। परम्परा और समसामयिकता का सम्मिश्रण व्रज की रासलीला मे विशेष मुखर है।

ब्रज की रासलीला :

रासलीला के वर्त्तमान स्वरूप मे मध्ययुगीन ब्रजकाव्य और आधुनिक ब्रज-जीवन का अनायास सम्मिश्रण हुआ ही है। निम्नाकित उद्धरण मे चाचा श्रीहितवृन्दावनदास के पदो के साथ-साथ ऐसे वार्त्तालाप को गूँथा गया है, जो ब्रज के किसी भी साधारण परिवार मे सुना जा सकता है। कृष्ण को स्वप्न मे अपने विवाहोत्सव की झाँकी मिली और अपनी वधू की भी। यशोदा उससे वधू के आकार-रूप का विवरण पूछती है।

स्वप्न-लीला :

चाचा श्रीहितवृन्दावन दास जी

(लाड सागर की श्रीकृष्ण विवाह-उत्कण्ठा वेली के आधार पर)

यशोदा—तो लाडली तोहि सुपनेमे कैसी दीखी, वडी कै छोटी?

कृष्ण—मैया! मै तो मुख ही मुख देखत रह गयौ वडी छोटी कौ तो ध्यान ही नॉय रह्यौ।

यशोदा—नेक सम्हार कर लै, ध्यान मे आय जाय कहूँ।

कृष्ण—(ऑख बन्द कर थोडी देर बाद) मया! मै कहा कहूँ तू हॅसैगी।

यशोदा—कह तो सही, कहा ध्यान मे आयो?

कृष्ण—मैया! वह तो कभू बडी बडी सी लगै है और कभू छोटी छोटी सी लगै है। न जानै वह बडी है कै छोटी है। तू नेकु ते बूझ लीजो, कहूँ बडी न होय, नही तो...........

तुक—घर को ऊँचौ द्वार करावै देखि देखि दुख दहिये।
मित्र मण्डली सबै हॅसे नित लज्जा भीजत रहिये।।
सकुचीलौ स्वभाव है मेरौ बात परत नहि सहिये।
कोऊ देइ उरहनो मन कौ चैन नही कहुँ लहिये।

वार्त्ता—मैया, मेरौ तो बडौ ही सकुचीलौ स्वभाव है। नेक हू कोई ऐंडी बैंडी कहि देय तो मै तो धरती मे गड जाऊँ हूँ! नेक हू नही सह सकूँ हूँ।

यशोदा—अहा! ये सब ब्रज की गोपी बडी झूँठी है। तोकूँ नाहक मे ढीठ लगर ऊधमी कह्यौ करै है।

कृष्ण—मैया, वे सब झूँठी है, मै तो

तुक—डरत रहत हौ सबसौ पॉव परि पार न वेगि उमहियै।
वृन्दावनहित रूप लाभ लहि अभिमानिन मद ढहियै।।

वार्त्ता—मैया, मै तो सबन ते बडौ डर-डर क चलूँ हूँ सबन ते प्रीति भाव बनाय राखूँ हूँ कभू जल्दी नही रिसाऊँ हूँ, मोकूँ बाबा के नाम को बडौ ध्यान रहै है, मै तो अभिमानी घमण्डिन के ही नाक कान पकरूँ हूँ। औरन के आगे बडौ दीन, प्रिय, सरल, सुशील बन कै रहूँ हूँ। फिर मेरौ ब्याह क्यो नही होवैगो, मैया? और मोकूँ सब अपनी अपनी बेटी क्यो नही ब्याहेंगे?

यशोदा—जरूर ब्याहेगे लाला, जरूर और तेरे रोम रोमकूँ ब्याहेंगे।

कृष्ण—परन्तु बडी नही होवै मैया, या बात कौ तोहि पूरौ ध्यान दैनौ परैगौ। अच्छा मैया! अब ब्याह तो बरसाने मे पक्कौ है गयौ। अब तू मोहि माखन मलाई खवाय कै झट-पट बडौ कर लै फिर बलदाऊ भैया और ग्वाल-बाल सब मोते डर्‌यौ करेंगे। और फिर जब बडे गोप वृषभानु राय जी के घर मेरौ ब्याह है जायगौ तब तो सब मेरे आगे हाथ जोरि दीन वचन बोलेगे। और मेरी जय-जयकार गायौ करेगे।

(प्रवेश गोपीजन)

पहिली गोपी—आज मैया बेटा कहा बैठे-बैठे बतराय रहे है। कन्हैया अबहि बछरा चरायबे नही गयौ।

यशोदा—हॉ अब जाय है, बातन बातन मे देर है गई।

गोपी—कहा ऐसी बात है हम हूँ सुनै?

यशोदा—अरी गोपियो कहा सुनोगी याकी बातन कूँ।

कृष्ण—कह दे न मैया, ब्याह की बात कर रहे है।

यशोदा—अरे मेरे ढोल! बिना बजाये आपही बजै है।

गोपी—ब्याह? कौन के ब्याह की बात?

कृष्ण—मेरे और कौन की?

समाजी—पद सुनत यह बात हँसी ब्रजवाला।

गोपी—ऐसी चाह ब्याह की जो तौ चोरी तजि नन्दलाला।
बात तोतली कहि मैयासों करत हौ अधिक निहाला।।

पोल काढि है सखा संगके चलत अनौखी चाला।
माँगत दान दही कौ समझत रीति सबै गोपाला।।
बलि भैया कौ दोस देत मुख बोलत वचन रसाला।
निपट गुनीले हम जानति है कहा बजावत गाला।।
वृन्दावन हित रूप रावरे जस की फेरत माला।

दूसरी गोपी—हँसी दस पाँच गोपिका सुनिकै।
बड़ी साधुता निकसी उरते लाल बोलिये पुनि कै।।
जिनके भाँड़े फोरि बगाये तिनके उर रहे धुनि कै।
यह चतुराई ब्रजपति नन्दन पढ़े कौन से मुनि कै।।
पटकत चरन किंकनी नूपुर भये जो रोचक धुनि कै।
जननी अधिक सिहात लाल गुन हिये धरत है चुनिकै।।
ब्याह बधायौ गायौ चाहत ये गरुवे गुन गुनि कै।
वृन्दावन हित रूप हथ्यौना खान फूल तरुनिनु कै।।

तीसरी गोपी—मोहन समझि की बलि जाऊँ।।
कहत गोपी और काढ्यौ बाप कौ तुम नाऊँ।।
न्याय की सुनि बात कान्हर नही चुगली खाऊँ।
तनक सौ अति छल भव्यौ तैं सब नचायौ गाऊँ।।
दूध हाँडी फोरि कै आयौ पिछोंड़ै पाऊँ।
कहा देउ उराहनौ मुख कहत हौ जु सकाऊँ।।
यह कहत है झूठ हौ पर सदन जात डराऊँ।।
वसति है किहि ओर मै देख्यौ न याकौ ठाऊँ।।
जो बिगारे काम तासों उलटि हौ जु रिसाऊँ।
वृन्दावन हित रूप झूठी बात कौं पछिताऊँ।।

दूसरी गोपी—अरी वीर गुन तौ इनके कारे है सो तो है ही, रग हू तौ महा कारौ है। रग हू नेक चोखौ गोरौसोरौ हो तौ कोऊ कदाचित् अपनी बेटी देहू दे तौ परन्तु .

पद—देहिगौ को कारे कौ बेटी।
गरे दिपति गुंजन की माला सेली काँधि लपेटी।
तापै लच्छन चोर लला तन लाज तनक नहिं भेटी।।
मोरन के पाँखन की टोपी माथे मैं उरसेटी।
पोली बाँस बँसुरिया देखौ कटि ऊपर खुरसेटी।।
वृन्दावनहित रूप दान की वन में बात चपेटी।

वार्त्ता—हे यशोदा जी। तुम्हारो लाला रग करकै तो कारौ कलूटौ, सिगार देखौ तौ जंगली गँवार गँवारियन कैसौ, लक्षण देखौ तो चोर बटमारन के से और दुलहिनी मागें है बडे घर की बेटी।—तन मे न लत्ता, पान खाँय अलबत्ता,

ब्रज मे तो कोऊ ऐसो अन्धौ गोप दीखै नही है जो अपनी बेटी कुँआ मे ढकेल देवैगौ। हाँ लका ते भलेई कोई कारी कलूटी राक्षसी मिल जावेगी।

यशोदा—चुप रह री। तू बडी स्वर्ग की अप्सरा आई, इन्द्र के अखाडे की परी, जो मेरे लाला के गिन गिन कै नाम धर रही है।

कृष्ण— अरी घरबसी! तू कौन है? कहाँ ते आई जो हमारे दारभात मे मूसर चन्द बनै है।

पद—घरबसी, तू को कितते आई।
बिनही कारन भवन पराये चपरी लेत लराई।।
नाम धरत है मैया मोकौ यह मनसुखा सिखाई।
कहि वेगी घर जाय आपने याके मन की पाई।।
चोर चुगल की यह जु मिलनियाँ कैसी बात बनाई।
काम बन्यौ बरबस बिगारि है हीये भरी खुटाई।।
हंसिनी ठगिनी जानि परी है तैं कित मुँह जु लगाई।
बचननि और पेट कछुं औरैं खरचत है चतुराई।।
बाबा की सौंह महा ढीठ यह करि जैहै भड़िआई।
तू रानी न प्रीत कर यासौं लै है मति बौराई।।
ताहि न घर मे आवन दीजै काटै बात पराई।
वृन्दाबन हित रूप नीति की बात कही सुनि माई।।

वार्त्ता—मैया! एसी लरहाई चुगलिन कूँ तो घर मे घुसन ही न देवै। ये काहू की बनती नही देख सकै है। बने कूँ बिगारनौ, हरे भरे कूँ जरावनो ही इनको धन्दौ है। आज ते आगे याकूँ फिर घुसन न दीजौ, मैया। ये रोजीना मेरौ ब्याह बिगार दियौ करैगी। बिल्ली खायगी नही तौ लुढकाय जरूर देगी।

गोपी—अरी सखियो! इनको ब्याह की कैसी चटपटी लग रही है! पपैया की सी रट लग रही है!!

पद—स्याम के चातक की सी रट है।
ब्याह काज जसुमति तुव नन्दन वचन कहत चटपट है।।
औरनि काज बिगारैं बरबस आप काज सट पट है।
कौन भली कहि है हो ढोटा करि सबसों खट पट है।।
मैयाहू सां चूके न तादिन फोर्यो दधि कौ घट है।
लरकन के तन भरैं चुहुँटियाँ खाट बाँधि शिर लट है।।
लरिवै कौ सब सों भयौ सन्मुख कटि कस पीरौपट है।

यशोदा—यह कहा कहै है? मेरौ छोटौ सौ कन्हैया बडे बडेन सौ कैसे लड़ सकै है?

गोपी—(तुक): अरी तनकसौ दीखतु ताछिन लगै भलौ मनु भट है।

वार्त्ता—अजी! यही आपके सामने तनक सौ दीसै है, लडवे के समय तो पूरौ महावीर बन जाय है।

कृष्ण—मैया, महावीर नाम हनुमान कौ है सो यह देख मोकूँ बन्दर कहकै तेरे मोहडे पै चिढाय रही है। मै बन्दर तौ तू बदरिया है!

यशोदा—खूब कही लाला, अच्छौ मोहडौ झाडयौ। मेरे लाला कूँ बन्दर कहै।

गोपी—कहा ये बन्दर नही है?

तुक—दूध दही ढरकाय चपेटौ मारि जात है झट है।
वृन्दावन हित रूप नामहू पायौ नागर नट है।।

वार्त्ता—ये हमारे दूध दहिए ढरकाए देय है, हमारे चपेटौ भार जाये है, बहियाँ मरोर जाय, गागर फोर जाय, हार तोर जायें है। ऐसी ऐसी कला हमकूँ दिखावै है तब ही तो नागर नट नाम पायौ है।

कृष्ण—और सेत-मेट मे नट की नाई म तुम कूँ नाच गाय कै रिझाऊँ हूँ। सौ क्यो नही कहै है? अपने अवगुणनने छिपाय कैसी लडवै चली है। मैया?

पद—याहि हौ जानत हौ लरिहाई।

गोपी—तो कहा तुम मेरे घर में नही घुसे हो?

कृष्ण—तो मै चोरी करिवे घुस्यो हौ के अब वानर काढिवे घुस्यौ हौ? अरी मैया! एक दिना मै पौरी मे खेल रह्यौ, याके घर मे वानर घुस गये, यह सोय रही ही सो .

तुक—मैं काढ़े वानर घर मे ते समझै यह न भलाई।
नीठ नीठ हो बच्यौ नाहरी ब्याई मानों धाई।

वार्त्ता—मैया! बन्दर जात खेम याकूँ नौच गयौ, सो यह जाग परी और यह मोपै ही चोर चोर कहि कै ब्याई नाहरी की नाँई अरराय परी।

और मैया

तुक—याहि अन्न भावै तब जब पर घर में लेत लराई।
उठत खाट ते कलह मचावै निन्दा करत पराई।।
अति झगराऊ बड़ी सूमनी जो देहि मोर दिखाई।
ताहि न मिलै अन्न सन्ध्या लगि मै जु बात पचाई।।

वार्त्ता—मैया! यह बडी झगराऊ है, दिन भर चपर चपर करै है, और महा सूमनी है, कानी कौडिननै हू जोरि जारि कै राखै है। और जो कोई या भगवती के मुखारविन्द के दर्शन सबेरे कर लेय है, वाकी तो वा दिना एकादशी निर्जला है जाय है, यह मैने परचाय कै देख लई है। जा दिना मे कालीदह मे कूदयौ हौ ना मैया, वा दिना सबेरे याही कौ मोहडौ देख्यौ हौ, यह ऐसी सुलच्छना है।

यशोदा—अरी ओ री लक्ष्मी ! नेक दिन चढे पै दर्शन दियौ कर। कम ते कम मेरे लाला कूँ कलेऊ कर लैन दियौ कर।

कृष्ण—मैया याकूँ आबन ही मत दियौ कर, सबेरौ होय कै सन्ध्या, याकौ मोहडौ जैसौ है वैसे ही चरण हू है। घर ऑगन मे न परै तोई अच्छौ।

गोपी : (तुक)—हसि बोलो गोपी ब्रजमोहन कहॉ यह बुद्धि कमाई।

वार्त्ता—अजी ब्रजमोहन लाल जू, इतनी झूठी बात बनायबे की बुद्धि तुम मे कहाते आई, बडे आसमान मे थेगरी लगावौ हौ।

(तुक) : बोलो सॉची जसोमति आगे जिन खरचौ चतुराई।

वार्त्ता—अपनी मैया के आगे तो सॉच बोलौ, इतनी चतुराई क्यो लगाय रहे हौ?

कृष्ण—(तुक) : सॉची कहत हौ तुम सबकी बिगरावति फिरत सगाई।
बाबा की सौ मैं साची तै खोटी बात चलाई।।

गोपी—(तुक) : बहुत गाई कौ फूलत हौ कहॉ डरी सी पाई।
चलौ आप कुल रीति लला अब जैसे होय बढ़ाई।।

वार्त्ता—अजी लालन ! जो तुम अपने गोपकुल की रीति नीति सौ चलौगे तो तुम्हारौ नाम निकरैगौ, और तुम्हारी सगाई है जायगी, नही तो ब्याह सगाई कोई गुड की डरी थोरे ही है। जो जहॉ तहॉ मिल जायगी और तुम गप्प खाय डारौगे।

दूसरी गोपी—दुलहिन पेड पै जहाँ तहॉ नही फलै है जो झट्ट पाय जावौगे, इन गुननते तो तुम स्याम सुन्दर क्वारे ही रह जावोगे।

पद—हँसत है गोपी सन्मुख ठाढ़ी।
महरि तनक सौ ढोटा उरते गुननि कोथरी काढ़ी।।
बिनही ताल पखावज नाचै लगन ब्याह की काढ़ी।
वृन्दावन हित रूप बिना ही प्यास प्यास है बाढी।।

रासलीला-साहित्य का यह रूप अष्टछाप के कवियो की रासलीला से बहुत बदला हुआ है। मुहावरेदार बोलचाल का गद्य ब्रजभाषा की नैसर्गिक भगिमा का माध्यम है। ब्रज की विशाल और पुरातन परम्परा की गरिमा इस लिखित साहित्य मे उतनी ही मुखर है, जितनी अकिया नाट मे अथवा मेलात्तूर के भागवतमेल मे।

लिखित साहित्य के अतिरिक्त ऐसा भी नाट्य-साहित्य है, जिसमे नामहीन प्रतिभा शायद बरसो तक गीतो को निखारती रही है, और आशुगुम्फित गद्य सवाद को भी परिस्थिति के अनुसार व्यवहार में लाती रही है ऐसे नाट्य-साहित्य के गीतो के सग्रह तो हुए है, किन्तु उन्हें रग-दर्शन के सन्दर्भ मे प्रस्तुत नही किया गया है। परम्परागत अभिनय एव प्रदर्शन मे उन गीतो की अर्थवत्ता बढ जाती है। उत्तर बिहार के 'जट-जटिन' के गीत ऐसे ही नाट्य-साहित्य के उद्धरण है।

जट-जटिन :

उत्तर बिहार का 'जट-जटिन' वस्तुत लोकगीत और आचलिक नाट्य के बीच की अवस्था का नमूना है। अँगरेजी के 'फोकप्ले' की सज्ञा 'जट-जटिन' को दी जा सकती है, अर्थात् यह ऐसा प्रदर्शन है, जिसमें बिना किसी विशेष तैयारी के ग्रामीण समाज अपने जीवन और अनुभूतियो के विषय मे एक सामुदायिक उत्सव के रूप मे रग-प्रदर्शन प्रस्तुत करता है। इसका साहित्यिक अन्तरग और काव्य उन नाटको से भिन्न है, जिनका विकास सस्कृत-नाट्य के ह्रासकाल मे सगीत-नृत्य और भाषा-सवाद के समावेश द्वारा हुआ था। इसके काव्य मे ऐसी ताजगी और अकृत्रिम बिम्बयोजना है, जो अन्य परम्पराशील आचलिक नाट्यो मे लगभग अप्राप्य है। 'जट-जटिन' पूर्णतया स्त्री-समाज का मनोरजन है। स्त्रियाँ ही वेश धरती है, गान और नृत्य करती है, और प्रेक्षक भी स्त्रियाँ ही होती है, पुरुष इस नाट्य को नही देख सकते। अत, इसमें दाम्पत्य-जीवन का वह मार्मिक पक्ष उभरता है, जो न पौराणिक कथाओ मे है और न परम्परागत प्रेमाख्यानो मे।

कथावस्तु अत्यन्त लघु है, कारण-कार्य का क्रम और घटनाओ के चरमबिन्दु की ओर त्वरित प्रगति नही है। श्रीमती इन्दुबाला देवी द्वारा सम्पादित 'जट-जटिन'[1] मे इस नाट्य की रूपरेखा का आभास मिलता है, यद्यपि इसके फुटकर गीत तो अन्यत्र भी सगृहीत हुए है। नीचे मैने श्रीमती इन्दुवाला देवी के सग्रह और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के अप्रकाशित गीतो के सग्रह का अध्ययन करने के बाद 'जट-जटिन' की नाट्य-रूपरेखा को, क्रम और कथानक का ध्यान रखते हुए निर्धारित करने का प्रयास किया है।

प्रस्तावना मे गान-मण्डली के समवेत गीतो मे बेटी के मायके बुलाये जाने, उसके भाई के आगमन और सावन-भादो की बढती नदी मे यात्रा के जोखिमो का सजीव वर्णन होता है। परम्परा के अनुसार कि 'जट-जटिन' का विशिष्ट आयोजन सावन-भादो के शुक्लपक्ष की रात्रि मे होता है। मिथिला का अंचल अनेक नदियो द्वारा विभक्त है। सावन-भादो मे ये नदियाँ यात्रियो के लिए भयावह बाधाएँ बन जाती है। न जाने कितनी नावे भँवरो मे ग्रसित हो जाती है, सपनो और साधो को लिए अनेक भाई अपनी बहनो को घर लाने के उपक्रम मे जलमग्न हो जाते है। पर, सावन-भादो आने पर 'जट-जटिन' का खेल तो होना ही है। उत्सव और काल दोनो मानो एक अनिवार्य चक्र के अग है। उल्लास और मृत्यु के इस शाश्वत सह-अस्तित्व का सहज और अनायास सकेत ही इन प्रस्तावना-गीतो मे मिलता है, और इनमें अन्तर्हित दार्शनिक तत्व यद्यपि यूनानी कोरसो के दर्शन की भाँति मुखर नही है, तथापि मूलत कालदेवता का घोर गर्जन दोनो मे ही एक वशीकरण मन्त्र की भाँति व्याप्त है। एक तरफ तो प्रस्तावना-गान मे 'जट-जटिन' खेलने के लिए वधू की उतावली का माधुर्य दीख पडता है·

सावन भादव केरा रितवन इँजोरिया
सखि पिया हे, खेलै छै झूमरिया, कदम तरे।

---

१. देखिए जट-जटिन : इन्दुबाला देवी, कला-सस्थान, पो० मल्लडीहा (पूर्णिया)।

जब पहुँ आगे धनि खेलबै झूमरिया
खेलबै झूमरिया, कदम तरे
धनि हमरा लागि पलंगा बिछाय देहो, हमरा लागि।
पलंगा बिछैते पिया हे बड़ी देर लागतै,
सबेरी देरी लागतै
पिया हे सखि सब खेलवा उसारतै, सखि सब।

दूसरी ओर, अन्य दो प्रस्तावना-गीतो मे नैहर जाते समय नाव डूबने की आशका को स्पष्ट अभिव्यक्त किया गया है और बहन की इच्छा पूरी करनेवाले भाई की अकालमृत्यु और बहन के भी कालकवलित होने का मार्मिक उल्लेख है। बटोही के हाथ वधू अपने नैहर सन्देशा भेजती है और कहती है कि मेरा सवाद न मेरे बाबा को देना, न मेरी अम्मा को, न मेरी भौजी को

हमरो समाद रे भैया, भैया आगू कहिहो
सुनैत भैया घोड़िया दौड़ायेत।

भैया के साथ नैहर की यात्रा प्रारम्भ होती है

बारह बरिसबा हे सासु, भैया अयलै पहुनमा हे
डोली चढ़ी जयबै हे नैहर।
सावन भादव केरा उमड़ल नदिया हे
कौने बिधि उतरब पार।।
सिकिया में चिर-चिर बेड़बा बनैबै हे
वोहि रे चढ़ि जयबै हे नैहर।
टूटि जयतअ बेड़बा छिलकि जयतह पनिया हे
डूबि रे मरबअ भैया तोहे बहिन।

मृत्यु की आशका कल्पना को इतनी सजग कर देती है कि अनिष्ट का सागोपाग चित्र इन सहगानो मे प्रत्यक्ष हो जाता है और मानो वास्तविक जीवन का अकथ्य, करुण व्यजना बन जाता है।

इन प्रस्तावना-गीतो मे काल की आशका के परिप्रेक्ष्य मे उत्सव की उमंग की झाँकी के साथ नाट्य के प्रमुख पात्र-पात्रियो का उल्लेख भी हो जाता है, पति (जट), पत्नी (जटिन), माँ, बाबा, सात सखियाँ, भाई, भौजी, ननद, सास, ससुर इत्यादि।

प्रस्तावना का दूसरा अश है नृत्य-सहित वे **संवादगीत**, जिनमे स्त्रियो के दो दल खेल के लिए एक दूसरे को आमन्त्रित करते है। 'झूमर' और 'लागर' नामक खेलो की नैसर्गिक भूमिका प्रस्तुत करते है, वृक्षो की डाल-डाल, पात-पात पर नर्त्तक की थिरकन और झंकार की भी उमग खोजते है। इन प्रस्तावना-सवादो से यह भी स्पष्ट होता है कि 'जट-जटिन' मे गाँव के तथाकथित उच्च वर्ग की कन्याएँ भी भाग लिया करती थी।

तदुपरान्त कथानक का प्रारम्भ होता है।

कथानक को अको अथवा सन्धियो में तो विभाजित नही किया जा सकता; क्योकि यह चरमबिन्दु की ओर अग्रसर होनेवाला और सघर्ष एव घात-प्रतिघातो से सयुक्त कथानक है ही नही। असल मे इसे **प्रसंगमाला** कहना अधिक उपयुक्त होगा। लिखित नाटको मे घटना-गुम्फन, अप्रत्याशित परिणति, सस्पेंस इत्यादि जो नाटकीय उपकरण होते है, उनके स्थान पर इन प्रसगो के सवादो मे औत्सुक्य का उत्कर्ष और भावो का चमत्कार मिलता है। 'जट-जटिन' के कथानक मे निम्नलिखित प्रसगो का क्रम मिलता है।

मँगनी-प्रसग—जटिन को अपनी पुत्रवधू बनाने के लिए जट की माँ तरह-तरह से अनुरोध करती है, और जटिन की माँ उसकी हर दलील को पलटते हुए इनकार करती है। इसी तरह का वार्त्तालाप समधियो के बीच होता है, एक पक्ति मे इकरार और दूसरी में इनकार। मैने अन्यत्र प्रश्नोत्तरी का जिक्र किया है, जो परम्पराशील नाट्य की विशेषता है और जिसका सूत्र उपनिषदो और महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर-सवाद से जोडा जा सकता है। किन्तु उन प्रश्नोत्तरियो मे तो जिज्ञासा और समाधान का क्रम होता है, जट-जटिन मे अनुरोध और अस्वीकृति का, अथवा उपालम्भ और कैफियत का। जट की माँ कहती है—मैने तुम्हारी लडकी को पानी लाते समय देखा, उसके साथ मेरे बेटे का ब्याह होने दो। जटिन की माँ का उत्तर है कि तुम्हारे यहाँ जाने पर कलसो मे पानी भरते-भरते ही मेरी बेटी मर जायगी, अपने बेटे को क्वारा ही रहने दो। फिर वह कहती है, मैने तुम्हारी बेटी को घर लीपते देखा था, तो जवाब मिलता है कि मेरी बेटी तुम्हारे घर लीपनेवाले कपडो से ही लगी रहेगी। इसके बाद अनुरोध धमकी का रूप लेता है और उसका भी टका-सा जवाब मिलता है।

> **जट की माँ—लय जयबग्र नौ सौ बरियात, जोर करबग्र बियाह हे समधीन।**
> **जटिन की माँ—फेर देबग्र नौ सौ बरियात, नहिं करबग्र बियाह हे समधीन।**
> **जट की माँ—लय जायबग्र मसक बाजा, जोर करबग्र बियाह हे समधीन, बल करबग्र बियाह।**
> **जटिन की माँ—फेर देबग्र मसक बाजा, नहिं करबग्र बियाह हे समधीन।**

धमकी नही चलती है, तो समधिन प्रलोभन दिखाती है और कहती है कि तुम्हारी लडकी के लिए साया, साडी, सिनूर-टिकली, हँसुली, सिकरी लाऊँगी, पर एक-एक करके इन प्रलोभन का भी प्रत्युत्तर मिलता है। इस प्रश्नोत्तरी मे नाटकीयता इसलिए भी आ जाती है कि हरेक प्रश्न और उसके उत्तर के बाद नये प्रश्न के लिए उत्सुकता पैदा हो जाती है, और यद्यपि उनका रूप एक-सा लगता है, तथापि उत्तर भी विविध प्रकार के होते है।

विवाह-प्रसंग—नाटक मे विवाहोत्सव का विशेष अभिनय, सवाद इत्यादि नही है। किन्तु, एक रोचक प्रसंग है मुख्य पात्र-पात्री (जट-जटिन) के विवाह की नकल—बका-भकुली-विवाह। जट-जटिन में ऐसे लघु प्रहसन और भी है। यथा: 'रोहीदास

का इलाज' और 'लुखबा की मौत।' ये लघुप्रहसन मुख्य कथानक के प्रसगो को ऐसे ही प्रतिध्वनित करते है, जैसे परम्पराशील नाट्य (और पारसी थियेटर के नाटको) मे विदूषक की नकले अथवा प्रहसन । बका-भकुली-प्रसग मे तीन दुगाने है। ये तीनो ही विवाहो मे वरपक्ष को लक्ष्य करके गाई जानेवाली गालियो के सवाद-स्वरूप है। पहले मे बका का पिता पूछता है कि मै अपने बका का विवाह भकुली से कराने ले जा रहा हूँ। भकुली के दलवाले कहते है कि यदि भकुली से विवाह कराना है, तो डाली के सामान (सौगात-भेंट) का इन्तजाम करो। वह कहाँ से पाऊँगा ?—पिता पूछता है। उत्तर मिलता है—समधिन के लगवारे, यानी आशिक जो है, वही सौगात का इन्तजाम कर देंगे।

बंका का दल—कहां रे पयबै, कहाँ रे पयबै
डलवा के साजे।
मोर बंका रहतै रे कुमारे ?
भकुली का दल—डोमरा भैया भाय-भतीजा
समधीन के लगवारे
वोहै रे देतौ, वोहै रे देतौ
डलवा के साजे।

गौना-प्रसंग—ससुराल से जटिन के लिए बुलावे पर बुलावे आते है, इस सहगान की टेक मे नवेली जटिन को कच्चे बाँस की बाँसुरी के समान कहा गया है

काँच ही बाँस के बँसुलिया गे मैना,
मैना, जूमि रे गेलै बभना लियौनमा गे मैना।

उसे लेने जो यह ब्राह्मण आया है, उसके साथ वह इसलिए नही जाना चाहती, क्योकि रास्ते मे ब्राह्मणदेवता की पोथी ढोनी पड जायगी। दूसरा लेनेवाला नाई आया। उसके साथ इसलिए जाना मजूर नही कि वह राह-बाट मे हजामत बनाता रहेगा। तीसरा आया स्वय श्वसुर, पर उसके साथ इसलिए नही जाना चाहती कि रास्ते भर घूँघट तानना पडेगा। तब भैसुर (जेठ) आया, तो उसे भी मना कर दिया, क्योकि 'राहे रे बाटे खढवा बेरैते गे मैना।' देवर के आने पर जवाब दिया कि वह तो रास्ते भर अपने शौक मे मगन अपनी बढिया छडी ही चमकाता रहेगा। उसके बाद ननदोई को भी मना कर दिया .

मैना ननदोसिया के सग हम नहिं जयबै गे मैना,
मैना राहे रे बाटे कनखी चलैते गे मैना।

जटिन के इस व्यवहार की नकल मे भकुली का प्रहसन-सवाद भी होता है, जिसमे भकुली को अल्पवयस्का नायिका न कहकर लालरग का बडा घेरेवाला घाघरा पहननेवाली कहा गया है (तोरा लाल दलेला घँघरा)। भकुली भी अपने ससुर, अपने भैसुर यहाँ तक अपने स्वामी तक के साथ जाने से इन्कार कर देती है, पर न जाने का कोई कारण नही बताती। किन्तु, सहसा हम सुनते है कि वह जाने को तैयार हो जाती है, क्योकि :

तोरा इयारे (यार) बोलाबै अयलौ गे भकुली
तोरा लाल-दलेला घँघरा !
हम त जयबे करबअ हे इयारे तोरं बोलिया
हमरा लालदलेला घँघरा ।

भकुली तो भकुली ठहरी, किन्तु जटिन नववधू है, उसके मना करने का असली कारण था कि स्वामी बुलाने नही आया। पर, इस बात को सीधे व्यक्त न करके वह अपने ससुराल वालो से उडनखटोला भेजने के लिए कहती है

कहि दिहुन ससुर जनु के, भेजि देता उड़नी रे खटोलवा।
कतेक दिन रहबै रे नैहरवा, उमरिया मोर बीतलै रे नैहरवा !
बयसवा मोर बीतलैरे नैहरवा।

लेकिन जट के पिता, माँ, ज्येष्ठ भाई, सभी की तरफ से यही उत्तर मिलता है कि उडनखटोला नही जायगा, क्योकि इसने गर्व किया है **उमरिया बीतै देहो रे नैहरबा, गरबसय रहली रे नैहरबा।** और तब, आखिर कच्चे बॉस की बॉसुरी को बजानेवाला स्वामी स्वय आता है, तो वह उसके साथ जाने के लिए राजी होने का कारण भी सहज ही बताती है·

सामी के संग हमहुँ जयबै गे मैना, जयबैंगे मैना,
मैना राहे रे बाटे पनमा (पान) खिलैते गे मैना !
मैना राहे रे बाटे बीजिया (पंखा) डुलैते गे मैना।

ससुराल का दरवाजा आ गया। किशोरी वधू अन्दर जाने मे झिझकती है, पर अपनी झिझक को व्यक्त करने के बजाय श्वसुर के भवन की ड्यौढी को मलिन बताती है कि ऐसी मलिन ड्यौढी के अन्दर मै कदम नही रखूँगी, तुम मेरे दादा दरोगा का-सा दरवाजा बनवाओ।

नवदम्पति-प्रसंग—कथानक अब नया मोड लेता है। ससुराल मे नववधू के प्रारम्भिक अनुभवो मे रोमास, अज्ञात भय, मधुर उलाहना, चाचल्य से विदा और लज्जा के प्रवेश की धूपछाँह का जो ताना-बाना होता है, उसे सकेत और यथातथ्य मिश्रिन संवादो मे प्रस्तुत किया गया है।

सुहागरात के बाद। जट छेडता है जटिन, मै सच्चे दिल से और प्रेम से पूछता हूँ कि झुमका कहाँ खो दिया? जटिन जवाब देती है कि सारी रात तो तेरे बिछौने मे, तेरे नजदीक रही, शायद सबेरा होने पर तेरी माँ ही झुमके को चुरा कर ले गई। इसी तरह कगन की चोरी का इलजाम बहन पर धरा जाता है·

जट—हमे तोरा पूछियौ हे गे जटिनियाँ
दिल सय गे, जटिनी परेम सय गे
झूमका कहमा हेरैलै गे?

जटिन—सारी रात हेरे जटवा तोहरे बिछौनमा रे
जटवा तोहरे लगीचवा रे
जेटवा होयतै भिनुसरवा तोहर मैया चोरैलकौरे ।

इस साकेतिक अभिव्यक्ति के बाद सवाद सुहागरात की मधुर अनुभूति को अधिक स्पष्ट व्यवहार मे प्रकट करता है। वधू कहती है सबेरा हो गया है, मुझे आँगन बुहारना है, आँचल छोडो, जाने दो। पति कहता है इस मनोरम रोहिणी बेला मे पलग पर से जाने न दूँगा, प्रिये। यदि माँ, बहन और गाँव के श्रीमान् लोग मुझे दोष देंगे, तो देने दो, उन्हे मै सँभाल लूँगा, समझा लूँगा। इन सवादो मे शृगारिक आवेग की अत्यन्त सयत और मनोरम अभिव्यजना है.

जटिन—भोर भेलैय रे जटा भिनसरवा भेलै रे
जटवा कोइलिया बोललै रे
जटवा छोड़ि देहि अँचरवा
हम त एँगना बोहारबै रे।
जट—मैया बोहारतै गे जटिनियाँ, बहनियाँ बोहारतै गे।
जटिनी आजु के रोहिनिया हम त पलंगबै गमैबे गे।

लोक-साहित्य की एक विशेषता यह रही है कि जीवन की मधुर और मनोरम अनुभूतियो को दैनिक जीवन के साधारण अनुभवो और विषमताओ के सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया जाता है। कल्पना और मर्म का स्तर, श्रम और लौकिक व्यवहार के स्तर से भिन्न नही होता। इसीलिए, 'जट-जटिन' मे यथार्थमूलक और रूमानी दोनो ही प्रकार के नाट्य की ध्वनि एक ही सवाद मे मिल जाती है। सुहागरात के रूमानी वातावरण मे झुमके के खोने और आँगन बुहारने की बात छेडी गई है। नववधू को अपने नये घर श्वसुरालय मे लडकपन के स्थान मे लज्जाशील वधूसुलभ व्यवहार सीखना होता है। यह प्रक्रिया (एड्जस्टमेण्ट) आसान नही है। पति-सीख देता है—झुककर चलो, जैसे कच्ची करलिया (एक प्रकार की फसल) रहती है। वधू का उत्तर उस उच्छृखल कैशोर्य की प्रतिध्वनि है, जो थोडे दिनो मे मूक हो जायगा और वह चाचल्य, जिसे गृहिणी कर्म का उत्तरदायित्व हमेशा के लिए दबा देगा। वधू कहती है—मै अपने बाप की दुलारी बेटी हूँ, मै तो तन के चलूँगी, जैसे कदली-स्तम्भ रहता है, या बाँस की कोपल। यही नही, जब मै ऐसे तनकर चलूँगी, तो द्वार पर तुम्हारे पिता और खम्हार पर तुम्हारे भैया, शर्म से मरेगे। मै तन के चलूँगी, जैसे गाँव का जमीन्दार चलता है, गाँव की पुलिस चलती है।

जट—लिबके चलिहै गे जटिनियाँ लिब के चलिहै गे।
जैसे लीबय काँच करलिया वैसे लिबिहै गे॥
जटिन—नहिए लिबबौ रे जटा नहिए लिबबौ रे।
हम त बाबा के दुलारी धीया तन के चलबौ रे॥

जैसे चले गाम जिमीदरवा वैसे चलबौ रे ।।
हाथ फेक के चलबौ रे, जटा, गोड़ फेक के चलबौ रे ।
हम त बाबा के दुलारी धीया उतनि चलबौ रे ।।

जट—लिबनै बनतौ गे जटिनियाँ लिबनै बनतौ गे ।
जैसे लीबै कौनी के सीसवा वैसे लिबबौ गे ।।

जटिन—नहिए लबबउ रे जटवा नहिए लबबउ रे ।
जैसे केरा के थमवा रहले ओइसे रहबउ रे ।।

जट—लिबके चलिहै गे जटिनियाँ, लिबके चलिहै गे ।
जैसे गे लबे धानक सीसवा वैसे लबिहै गे ।।

जटिन—न लबबउ रे जटा नहिए लबबउ रे ।
जैसे बाँस के कोपरवा रहलइ वैसे रहबउ रे ।।

जट—लिबके चलिहै गे जटिनियाँ लिबके चलिहै गे ।
जैसे गे लबे धानक सीसवा वैसे लबिहै गे ।।

जटिन—नहि लिबबौ रे जटा नहिए लिबबौ रे ।
बथाने जयबौ रे जटा बथाने जयबौ रे ।।
बाबा तोहर दुअरिया जटा सरम सय मरिहै रे ।
खम्हार पर जयबौ रे जटा खम्हार पर जयबौ रे ।
भैया तोर खम्हार पर जटवा सरम सय मरिहै रे ।।

नवदम्पति के प्रसग मे उपालम्भ और पारिवारिक तकरार की भी कमी नही है। वधू अपनी सास से साग की निकौनी के लिए खुरपी और हँसिया माँगती है, तो सास ताना देती है कि अपने मायके से मँगा लो। जटिन नैहर जाने के लिए जट से कहती है, तो वह उत्तर देता है कि मक्का जो तैयार खडी है, उसे कौन काटेगा। जटिन का उत्तर है—तुम्हारी माँ और बहन काटेगी

मैया काटतौ रे जटवा बहनियाँ काटतौ रे
अबरी रे स मैया हम त नैहरे गमैवै रे
हमरा जाय दय रे नैहरवा सखिसंग झूमर खेलवै रे
ठाढ़ी रे इंजोरिया केसबा ओरमल अयतै रे ।

इसके बाद गहने की फरमायश और जट द्वारा बहानेबाजी का संवाद है। एक अत्यन्त रोचक संवाद है सुनार और बजाज के बारे में जटिन की शिकायत का.

जट—ढुलचल दिहुली ढुलचल
जटिन—कहाँ ढुलन में दिदिया
जट—सोनरे दुकनवा ढुलचन
जटिन—सोनार के पूत मोही मारलक
जट—कौने गुनहिए मारलक

जटिन—टीका छुअत मोही मारलक
जट—मारबौ रे सोनरा तोरो सोनारिन के
मोरो बिहुल के मारलक
ढुलचल दिहुली ढुलचल
जटिन—कहाँ ढुलन मे दिदिया
जट—बजजे दुकनवा, ढुलचल
जटिन—बजजा के पूत मोही मारलक
जट—कौन गुनहिए मारलक
जटिन—सड़िया छुअत मोही मारलक
जट—मरबी रे बजजा तोरो बजाजिन के
मोरी बिहुल के मारलक

वियोग-प्रसग—जट-जटिन का अन्तिम प्रसग अत्यन्त हृदयग्राही है। जट अपनी विवाहिता के लिए आभूषण खरीदने के लिए पूरब यानी कलकत्ता नौकरी करने जाना चाहता है। जटिन आभूषणो की फरमायश छोड देती है और कहती है मुझे हँसुली नही चाहिए। पूरब की हवा खराब है। तुम यही रहो, 'नैनो के हुजूर' मे रहो

जटा—जाय देही गे जटिन देसरे विदेस, तोरा लागी लबहु जटिन नथिया सनेस।
जटिन—नथिया त हे जटा तरवा के घूर, घरही रहु जटा नयने के हजूर।
जटा—जाय देहीगे जटिन देसरे विदेस, तोरा लागी लबउ जटिन टिकवा सनेस।
जटिन—टिकवा त हे जटा तरवा के घूर, घरही रह जटा नयने के हजूर।
हंसुली जे लागै जटा गरबे के फास
नहि करही रे जटा पूरबे के आस
पूरबे के पनिया कुपनिया छै रे जटा
कुपनियाँ छैरे जटा, लाइग जयतौ कोढ के करेज
रही जाही रे जटा नैने के हजूर।

जट आखिर विदेश चला ही जाता है। जटिन उसके वियोग मे रोती है

जटबा लागि धोतिया रगैले रहलै ना
हे रंगैले रहलै ना
हाय राम इहो रो धोतिया तेजि के नोकरिये गैलै ना।

जटिन उसे खोजने निकलती है, तो रास्ते मे सुनार उसे तरह-तरह के लालच दिखाता है। उसके उत्तर मे जटिन उसको फटकारती है और अपने जट की सुकुमारता का वर्णन करती है

सुनार—हे गे जटिनियां दाय, छोड़ै जटक के आरा
गरवा जोखि-जोखि हंसुली पीन्हैबो, चलै हमारे साथ।
जटिन—हे रे सोनरवा भाय, रे अगिया लगैवो तोरो हंसुलिया

बजरा खसैबौ तोरो साथ।
रे मोर जटा पूरबे नोकरिया
रहबै जटे के आस
बारह बरस हम आँचर बान्हि रहबै,
रहबै जटे के आस।
रे तोरो सय सुन्नर हमरो जटहवा
बटिया चलैत लचि जाय
रे तोरो सय सुन्नर हमरो बलमआ
चान-सुरुज छपि जाय।

जटिन झिगनासुर के घाट पर जाकर मल्लाह से प्रार्थना करती है कि मुझे घाट के पार उतार दो। उस समय का जटिन और मल्लाह का वार्त्तालाप भी रोचक है

जटिन—भइया मलहवा रेउ
उतर देही झिगनापुर के घाट।
थाली देवो अबा-खेबा
लोटा देबो इनमि
भइया मलहवा रे,

मल्लाह—न लेबो अबा-खेबा
न लेबो इनाम
बहिनी बटोहिनी गे
खोज लेग दोसर घटवार

जटिन—खसी देबो अबा खेबा
पाठी देबो इनाम
भइया मलहवा रे
उतारदेही झिगनापुर के घाट

मल्लाह—न लेबो अबा-खेबा
न लेबो इनाम
बहिनी बटोहिनी गे
खोज ले दोसर घटबार

जटिन—जटा देबो अबा खेबा
जटिन देबो इनाम
भइया मलाहवा रे
उतार देही झिंगनापुर के घाट

मल्लाह—न लेबो आबा-खेबा
जटिन लेबो इनाम

बहिनी—बटोहिनी गे
उतार दैबौ झिगनापुर के घाट

जट अन्तत लौट आता है। लेकिन, कुछ दिनो बाद दोनो मे झगडा हो जाता है और जट मूसल से जटिन को मारता है। जटिन रूठकर भाग जाती है। अब जट के विरहत्रस्त होने की बारी आती है।

जट—सुन मोर जोगिया, सुन मोर भाई
येही नगर मे जटिन भुलाई
जटा के छाता जटिन चौराई
नौ महीना के पेट ले के आई
सिरो के टोपी से हो ले आई
हाथो के छड़िया से हो ले आई
खोज मोर जोगिया, खोज मोर भाई

ग्रामीण—यही नगर मे जटिन न आई
जटा के छता सेहत न लाई
सिरो के टोपी सेहो न लाई
हाथो के छडिया सेहो न लाई
खोज मोर जोगिया, खोज मोर भाई

इससे भी अधिक मार्मिक है जट का यह विलाप·

जट—हाथी पर के हौदा बिकाय गेल गे जटिन तोरे बिनु
तोरे बिनु हमहुँ बेकल भैलो गे जटिन जटिन तोरे बिनु
तोरे बिनु महल उदास भेल गे जटिन तोरे बिनु
तोरे बिनु अँगना मे दुभिया जनमि गेल गे जटिन तोरे बिनु
मेजिया पर मकड़ा बियाय गेलैगे जटिन तोरे बिनु

नायिका की वियोग-परिस्थिति का वर्णन और प्रदर्शन कई परम्पराशील नाट्यो में देखा जाता है। किन्तु, जट-जटिन मे नायक की वियोग-परिस्थिति का अत्यन्त अनूठा और रोचक विवरण है। यही नही इस परिस्थिति को नाटकीय ढग से प्रस्तुत किया गया है। जट द्वारा जटिन की खोज मे रोचक अभिनय के लिए भी मौका मिल जाता है। पति, यानी जट अपनी पत्नी को खोजने के लिए निकलता है, तो रास्ते मे तरह-तरह के वेश धारण करता है। पहले दही बेचनेवाली ग्वालिन के रूप मे, फिर मछलीवाली के रूप मे फिर चूडीहारा के रूप मे

जट—(दही बेचनेवाली ग्वालिन के रूप मे)
दही लो दही लो दही वाले,
मेरा मीठा दही है बाजार के

ग्रामीण स्त्रियाँ—तोर केकर औटल दूधवा,
तोर केकर पौरल दहिया ?
तोहर सड़ल गन्हाय छौ दहिया
तोहर खट्टा महकै छौ दहिया।

जट (ग्वालिन)—माय ससुर के औटल दूधवा,
माय सासु के पौरल दहिया।
माय बढ़ मीठ लागै दहिया,
माय साँची दूध के दहिया।
अगे लेगे गहिक बेटी दहिया
अगे लेगे गहिक बेटि दहिया।

ग्रामीण स्त्रियाँ—अगे नहि लेबौ नहि लेबौ दहिया
तोहर कोय नहिं पूछै छौ दहिया।

सिपाही—हमहूँ त छि ए गुवालिन, मालिक के सिपाही हे
माड़ि डंटा, फोड़ि कोह, खाय लेब दही दूध हैं।

जट (ग्वालिन)—इहो मत जान्हि सिपाही असकर गुवालिन हेउ
मारि कोहा तोड़ब थूथना, बेचिलेब दही दूध हे।
रात रहौ कुंजवन दिन बैचो दही
धेघा सिपाही के नहिं दौं दही।
कोय लेगे गहिक बेटी-दहिया
मोर साँची दूध के दहिया।

सम्मिलित गायन—दही दूध बीकि गेल रे जटा, बचि गेल घोर
आन हो पुरैनी पात रे जटा पीबी लेहो घोर।

जट—(गोढ़िन, मछलीवाली, के रूप में)
ससुरे-भैंसुरे मोरे जाल बुनै ना, जाल बुनै ना,
असकर बलमुआ मोरा माँछ मारै ना,
माँछ लें हे माँछ लें हे गहिक बेटी ना।

ग्रामीण औरत—आहे कौनी मछरिया केरा गोढ़िन हे

जट—आहे रेहुआ मछरिया केरा गोढिन हे।

ग्रामीण औरत—आहे गहुमा के कै खूटे माँछ देवय है ?

जट—आहे गहुमा के तीन खूटे मांछ देबअ है।

ग्रामीण औरत—तोर मछरी बनबै नहिं जानियौ
धुए नहि जानियौ,

रान्है नहि जानियौं,
, खबैया के खियाबै नहि जानियौ,
धिया पुता परबौधे नहि जानियौ,
गोढ़िवा बहू गे!

जट (चूड़ीहारा के रूप मे)—चूड़ी ले चूड़ी ले!

ग्रामीण औरत—कहाँ के तूँ लाहे-लहेरिया,
कहाँ के तोर चूडिया?

जाट—मुगेर के हम लाहे लहेरिया,
बनारस के मोर चूडिया।

ग्रामीण औरत—सुनऊ लहेरी भाय,
तोर कै टका जोड चूड़िया?

जाट—सुनअ गिरथाइन दाय,
मोर पाँच टका जोड़ चूडिया
छै बडा मजा के चूड़िया
मोर चमचम चमकै चूडिया।
तोर टन-टन जाय छौ चूडिया
तूँ पीटल जयबै लहेरिया।

इस खोज के बावजूद जब जटिन नही मिलती है, तब जट अत्यन्त करुण वाणी मे आँगन मे जमी हुई दूब, पलग पर फैले हुए मकडी के जाले, रसोईघर मे ठण्डे पडे भोजन इत्यादि का उल्लेख करते हुए घर के सूनेपन को अभिव्यक्त करता है

जट—अंगना मे दूभिया जनमि गेल गे माई, जाटिन बिनु
पलंग पर मकडा जाल बिछाय देल गे माई जाटिन बिनु,
सेज पर मकडा बियाअ गेल हे जाटिन तोहरे बिनु।
दुअरे पर गोवर सूखि गेल गे माई, जाटिन बिनु,
भनसा रसोइया ठंढाय गेलगै हे जाटिन तोहरे बिनु।

अन्त मे, जट जटिन को मना कर घर ले आता है और मगल की भावना के साथ यह खेल समाप्त होता है

हमरा के की हे देबअ दान रोही-मालती!
जौ तहुँ आहो भैया भैसिया बिलमैबे
छोटकी ननदिया देबो दान, रोही-मालती
छोटकी ननदिया लागै हमरो बहिनिया,
आपनो जौवनमा देहो दान रोही-मालती
हमरो जौवनमा भैया बिखिया के मातलिउ

जेहो रे छूबै मरि जाय, रोही-मालती।
तोहरे जौवनमा जब बिखिया के मातिल,
तोहर बलमु कैसे छूबे रोही-मालती!
हमरो बलमु जी बंगला के सीखवा,
मयूर के पंख झाड़ू बीख रोही मालती!

कर्णाटक के दोडाट्टा से लेकर बिहार के जट-जटिन तक इन उद्धरणो मे पम्पराशील नाट्य-साहित्य की सहज अभिव्यजना बिखरी मिलती है और गरिमा का आभास भी। भावोत्कर्ष के लिए जहाँ एक ओर कथा-प्रवाह का ठहराव दीख पडता है, वहाँ दूसरी ओर कही-कही कथानक मे हठात् मोड भी प्रेक्षक को चकित कर देते है। काव्य मे अप्रस्तुत-विधान रूढिगत भी होते है और कही-कही सर्वथा नूतन और अप्रत्याशित भी। आचलिक रगत भाषा मे ही नही, अभिव्यजना-शैलियो मे भी उभरती है। फिर, भी यदि हम परम्पराशील नाट्य की आचलिक उपलब्धियो और देश की क्षेत्रीय भाषाओ के नागरिक साहित्य की विविध उपलब्धियो का मिलान करे, तो एक बात स्पष्ट हो जाती है। क्षेत्रीय भाषाओ के नागरिक साहित्य की अपेक्षा परम्पराशील नाट्य के आचलिक साहित्य मे अखिलभारतीय स्वरूप के पुट कही अधिक दृष्टिगत होते है। इसका कारण है कि यह नाट्य-साहित्य, ताल, नृत्य और गान के परिवेश मे पलता है और क्षेत्रीय भाषाओ की सीमाएँ इस परिवेश को सकुचित नही कर पाती।

वस्तुत, परम्पराशील नाट्य-साहित्य को सगीत और नृत्य के सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है। भाषा की लयात्मकता, गीतो की नाटकीयता, सवाद के घात-प्रतिघात सभी पर सगीत की ताल और गति का प्रभाव पडता है। इस 'सगीतक-साहित्य' मे कवि की व्यक्तिगत प्रतिभा सगीत और नृत्य की आवश्यकताओ से दिशा-सकेत पाती है और रगशाला के सम्प्रेषण-विधान मे अपनी परिणति खोजती है। साथ ही नाट्याचार्य के निर्देशन इस साहित्य को प्रदीप्त करते है।

उपसंहार

परम्पराशील आचलिक नाट्य की विशाल धारा की इन दो-चार हिलोरो के स्पर्श के आधार पर हम कुछ निष्कर्षो की चर्चा करने के अधिकारी तो हो ही सके है, यद्यपि ये निष्कर्ष सर्वथा स्वीकार्य हो, यह जरूरी नही है। जैसा मैने प्रारम्भ मे निवेदन किया है, इन नाट्यविधाओ के लिए लोक-नाट्य की सज्ञा अशत ही समीचीन है। हमारे परम्परागत नाट्य यूरोपीय फोक-प्लेज से भिन्न है, अधिक कलात्मक है और साहित्यिक धरोहर के परिवेश से बाहर नही है। कुछ विद्वानो ने लोक-नाट्य शब्द के सम्पर्क मे भरत-नाट्य शास्त्र के षष्ठ अध्याय के २४ वे श्लोक का हवाला दिया है

लोकधर्मो नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः।
भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ।।

यहाँ भरत लोकधर्मी और नाट्यधर्मी इन दो धर्मियो का उल्लेख करते है और उसके बाद भारती, सात्त्वती, कैशिकी, आरभटी इन वृत्तियो की व्याख्या करते है। कुछ विद्वानो के अनुसार लोकधर्मी से भरत का सकेत ऐसे नाट्य की ओर है, जो जनसाधारण, अर्थात् लोक का मनोरजन करे और उनके जीवन को प्रतिबिम्बित करे, तथा नाट्यधर्मी से ऐसे नाटको का तात्पर्य है, जो शास्त्रसम्मत नाट्य-सम्बन्धी विधान के अनुकूल हो। इन विद्वानो का यह मत है कि जो वर्गातीत नाट्य देश के विभिन्न भागो मे पाये जाते है, वे वस्तुत. इस लोकधर्मी परम्परा के अग है।

मुझे यह मत भरत के नाट्य-सम्बन्धी सर्वागीण दृष्टिकोण के विपरीत जान पडता है। भरत ने प्रारम्भ के ही कम-से-कम तीन श्लोको मे समूचे नाट्य को ही लोक की वृत्ति का अनुकरण बताया है

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।।

लोक के लिए उपदेश का माध्यम कहा है

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।

और लोक के सर्वकर्मो का अनुदर्शक भी बताया है

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससंग्रहम्।
भविष्वतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदेशकम्।।

अत, उनकी दृष्टि मे जन-साधारण के जीवन से सम्बद्ध नाट्य और शास्त्रसम्मत नाट्य में कोई अन्तर था ही नही। तब लोकधर्मी और नाट्यधर्मी शब्दो से भरत का क्या आशय

हो सकता था? इसके लिए हमे नाट्य-रस की विशेषता पर विचार करना होगा। अन्यत्र मैने नाट्य-रस के अमूर्त्त और आध्यात्मिक अनुभूति का सोपान होने की ओर सकेत किया है। भरत और अभिनवगुप्त नाट्य-रस को अलौकिक मानते है। यहाँ अलौकिक से तात्पर्य आध्यात्मिक से नही है, बल्कि उस अनुभूति से, जो लोक-जीवन मे प्राय उपलब्ध नही होती, यानी लोकातीत अनुभवो से प्राप्य रस। नाट्य की विलक्षणता यह है कि वह रगशाला के सीमित परिवेश के आगे किसी अलौकिक शक्ति के चमत्कार से हमे एक स्थान से दूसरे स्थान पर क्षण-भर मे पहुँचा देता है। अभिनेता जो व्यवहार करता है, वह नाटकीय व्यवहार है, वह लोक-व्यवहार नही है। रगमच पर बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ दिखाई जा सकती है, जो लोक-जीवन मे अमान्य होती है। दूसरे शब्दो मे जो नाट्य-धर्म है, वह जरूरी नही कि लोकधर्म भी हो। भरत का तात्पर्य यही था कि नाट्यधर्म मे काल, स्थान, व्यवहार इत्यादि लौकिक जीवन से भिन्न होते है और उसे जिस रस और आनन्द की उपलब्धि होती है, वे भी लोकिक जीवन के रस और आनन्द से परे है।

इस विचार को प्रस्तुत करने का मेरा आशय यह है कि भरत के समय मे साहित्यिक या नागरिक नाट्य और लोक या ग्रामीण नाट्य मे अन्तर नही था। यह अन्तर उस समय आया, जब राजदरबारो के सरक्षण मे ऐसे नाटको की ही रचना होने लगी जिनका सम्बन्ध उच्च वर्ग के जीवन से था और जिनके कर्म और सौन्दर्य को समझने के लिए रसज्ञ और शास्त्रज्ञ होना जरूरी था। मेरा अनुमान है कि भरत के सर्वसग्रही नाट्य की परम्परा को जारी रखने के लिए ही गुप्तकाल के बाद प्रयोक्ताओ और नाट्याचार्यो के प्रयासो से आचलिक और अनौपचारिक नाट्य-शैलियो की उद्भावना होने लगी। जान पडता है कि भरत के बाद बहुत कम ऐसे नाट्यशास्त्रवेत्ता हुए, जो रगप्रयोक्ता यानी प्रोड्यूसर भी रहे हो। दूसरे शब्दो मे नाट्य-सिद्धान्तो के प्रतिपादको और नाट्य-लेखको की तो एक श्रेणी हो गई और नाट्याचार्यो निर्देशको, और प्रयोक्ताओ की दूसरी। इस दूसरी श्रेणी के लोग जनसाधारण की रुचि और नाट्य की लोक-मानस के लिए सार्थकता के हामी थे। अत, जब उन्होने देखा कि राजकुल के मनोरजनार्थ पण्डित और कवि नाट्य को साहित्यिक और अलकृत रूप ही देते जा रहे है, तो उन्होने लिखित नाट्यो मे लोकप्रियता और लोकहित के लिए कुछ परिवर्त्तन करने शुरू कर दिये। उनमे प्रमुख परिवर्त्तन था नृत्य और सगीत का प्रचुर मात्रा मे समावेश कर सगीतक नामक नई विधा की सृष्टि करना। दूसरा तत्त्व था जनसाधारण के लिए उपयोगी नीतिशिक्षा और धर्मशिक्षा के पुट देना। ये दोनो ही परवर्त्ती परम्पराशील आचलिक नाट्य की आधारशिला हो गये।

एक अन्य दृष्टि से भी आज का परपराशील आचलिक नाट्य भरत की मौलिक पद्धति का उन्नायक है। नाट्यशास्त्र मे कहा गया है कि देवता लोग नाट्य करने मे असमर्थ है. **अशक्या भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि**। अत, नाट्य के प्रयोग और धारण के लिए ज्ञानी ऋषियो की आवश्यकता है **य इदं वेद गुह्याङ्गं ऋषयः संशितव्रताः**। देवताओ से

अलग ये ऋषि लोग कौन थे ? भरत ने अपने १०० पुत्रो को यह शास्त्र सिखाया। कौन थे ये सौ पुत्र ? नाट्यशास्त्र मे पूर्वरग की व्याख्यावाले अश मे किन दैत्यो के समाधान के लिए ब्रह्मा ने बताया कि नाट्य दैत्यो और देवो दोनो की कलाओ और धर्म को अभिव्यक्त करेगा ? ओर फिर, पूर्वरग मे इतने सारे विधान किन दैत्यो की तुष्टि के लिए किये गये ? हमने वर्त्तमान परम्पराशील नाट्य के सिहावलोकन मे देखा कि लगभग इन सभी शैलियो मे किसी-न-किसी प्रकार आर्य सस्कृति के साथ आर्येतर द्रविड और आदिम जातियो की सस्कृति को जान-बूझकर शामिल किया गया है। पूर्वरग मे मृदग का निर्घोष और सामूहिक नृत्य, किरात, हिरण्यकशिपु तथा दैत्य पात्रो का सविस्तर प्रत्यक्षीकरण और नाना देवी-देवताओ का पूजन—ये सब इसी समीकरण पद्धति के परिणाम है। मध्ययुग मे जब भागवत धर्म के प्रचार के लिए नाट्य को माध्यम बनाया गया, तब तो विशेष सावधानी और उदारहृदयता के साथ शकरदेव इत्यादि तत्कालीन सन्तो ने हरिजनो एव वन्यजातियो की कलाओ और कतिपय प्रथाओ को अपने नाट्य मे सम्मिलित किया। शायद यही कारण है कि आज दिन देश के अनेक भागो मे ये परम्पराशील नाट्य शूद्र और अर्द्ध-आदिम जातियो द्वारा बडे प्रेम के साथ एक धरोहर के रूप मे चालू किये जाते रहे है।

परम्पराशील नाट्य वर्त्तमानकाल मे इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है कि आचलिक होते हुए भी इसके सूत्रो मे देशव्यापी एकता का बोध होता है। अँगरेजी-राज्य ने हमे राजनीतिक एकता और यातायात के साधन तो दिये, किन्तु हमारे इन्द्रधनुषी मानसपटल के रगो के पार्थक्य को और भी गहरा कर दिया। पर, कुशल बुनकर के विविध रगो के धागो की तरह ये पृथक् वृत्तियाँ बहिरग के नीचे लुप्त होकर पुन देश के किसी दूर कोने मे निखर उठती है। इन बहुव्यापी रगीनियो के मूल मे है चार धाराएँ—वैदिककाल से ही प्रचलित प्रेमाख्यान, भरतमुनि द्वारा प्रचलित रगपद्धति के विदूषक-सूत्रधार-पूर्वरग, मध्ययुग मे प्रादुर्भूत भागवत-धर्म की प्रबल आस्थाएँ और तत्सम्बन्धी कथाएँ, एव जयदेव के गीतगोविन्द द्वारा समृद्ध की गई सगीतक शैली, जिसने सारे भारतवर्ष मे मन्दिरो और मेलो को रसनिमज्जित कर दिया।

क्या एकता का यह आधार कायम रह सकेगा ? क्या नवीन सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक विषमताओ की जटिलता परम्पराशील नाट्य जैसे सहज माध्यम के अस्तित्व स्वीकार करेगी ? इन नाट्य-विधाओ के प्रति अपरिमित श्रद्धा रखते हुए भी मै स्वप्नलोकका वासी नही हूँ। मै जानता हूँ कि ये आचलिक विधाएँ आज की रुचि के लिए अपरिष्कृत है, इनके रूढ पात्रो मे चरित्र-विश्लेषण का अभाव है, इनके कथानको मे वर्त्तमान विश्व के मानव को भुलावा दीखता है, आश्वासन नही। फिर भी, एक दूसरी दिशा मे इन परम्पराशील नाट्यो के प्रभाव की प्रतीति मुझे भावी साहित्य और रगशाला के क्षितिज पर होती है। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य हाल ही मे यथातथ्यवादी—अमूर्त्तमूलक और निषेधात्मक विधाओं के जंजाल से निकलकर पुन मध्ययुग की उन्मुक्त गान-नृत्य-विभूषित

और उद्बोधक एव भावोन्मेषी सलाप से झकृत रगशाला और नाट्य की ओर जा रहा है। इसका सबसे बडा प्रमाण है जर्मनी के नाट्यकार ब्रेश्ट की विश्वव्यापी लोकप्रियता। आज ब्रेश्ट के नाम की दुहाई पश्चिम के अत्याधुनिक नाट्यविशेषज्ञ दे रहे है। एक नये प्रकार का उल्लास पाश्चात्य रगमच पर छाता जा रहा है। मुझे आशा है कि भारतवर्ष मे नई पीढी हमे यथातथ्यवादी जजाल मे फँसने से पूर्व ही इस नये उल्लास का भागी बनायेगी, क्योकि हमारे पास उपकरण पहले से ही मौजूद है। ये परम्पराशील नाट्यशैलियाँ अभी मृतप्राय नही हुई है। मै नवोदित नाट्यकारो और रगप्रयोक्ताओ को आमन्त्रित करता हूँ कि वे इन परम्पराओ से प्रेरणा प्राप्तकर सच्चे अर्थ मे प्रत्याधुनिक, किन्तु पूर्णत भारतीय नाटय और रगमच की सर्जना करे।

शब्दानुक्रमणी

द

ध

न

य

र

ल